अनन्य

'हिंदी की नयी उड़ान'

मासिक पत्रिका

सितम्बर -2022

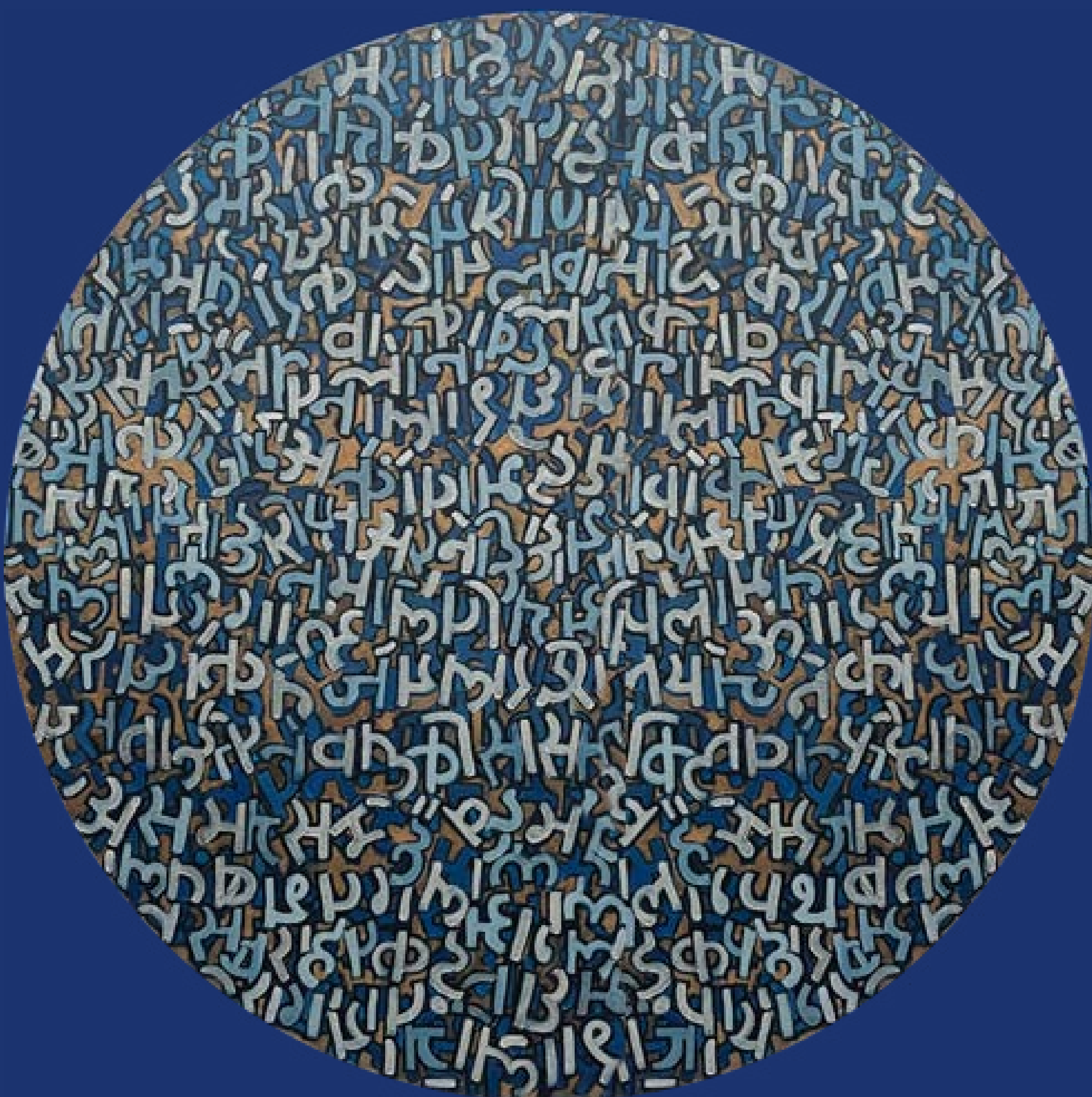

अनन्य

‘हिंदी की नयी उड़ान’

प्रबंध संपादक
अनूप भार्गव

संपादक
डॉ. जगदीश व्योम

कला संपादक
विजेंद्र एस. विज

भारतीय कौंसलावास, न्यूयॉर्क की हिंदी पत्रिका

अनन्य

मासिक पत्रिका, सितम्बर-2022
भारतीय कौंसलावास, न्यूयॉर्क की हिंदी पत्रिका

प्रबंध संपादक
अनूप भार्गव

संपादक
डॉ० जगदीश व्योम

कला संपादक
विजेन्द्र एस. विज

संपादन सलाहकार
डॉ० हरीश नवल

तकनीकी सलाहकार
बालेन्दु शर्मा दाधीच

संपादन सहयोग
स्वरांगी साने
आभा खरे

व्यवस्था
अमित खरे
गीता घिलोरिया

आवरण चित्र : विजेन्द्र एस. विज
The Royal Words
36x36 Acrylic on Canvas
Vijendra S Vij

आइकॉन पर क्लिक करने से
आप ऑडिओ रिकॉर्डिंग सुन सकते हैं

आइकॉन पर क्लिक करने से
आप विडियो रिकॉर्डिंग सुन सकते हैं

अनुक्रम

पृष्ठ संख्या

संपादकीय
डॉ॰ जगदीश व्योम 06

गीत/नवगीत : मनोज जैन 'मधुर'
काश! हम होते नदी के ... 08
चाँद सरीखा मैं अपने को 08

विशेष लेख :
धर्मवीर भारती जी को याद करते हुए / अनूप भार्गव की टिप्पणी 09
पुष्पा भारती जी का लेख / संस्मरण 10
भारती जी का नवगीत / आवाज़ के साथ 12
अमृत लाल नागर / संस्मरण 13

लघुकथा : ज़िन्दगी / अशोक भाटिया 19

ग़ज़ल : तीन ग़ज़लें / पवन कुमार 20

कहानी : ये इश्क नहीं आसां / उर्मिला शिरीष 21

गीत/नवगीत : गाँव का व्यवहार क्या हो / राकेश खण्डेलवाल 26

व्यंग्य : अब मेरे घर में देवता रहते हैं / धर्मपाल महेन्द्र जैन 28

लघुकथा : बाबूजी का श्राद्ध / रेणु चन्द्रा माथुर 30

दोहे : नरेश शाण्डिल्य 31

कला : सुनील दास - परम्परा में नवीनता का अन्वेषक - कुमार अनुपम 32

व्यंग्य : समुद्र तट से ऊँचाई / आलोक पुराणिक 38

ग़ज़ल : चार ग़ज़लें / विज्ञान व्रत 40

लेख : ओह अमेरिका आह अमेरिका / -हरीश नवल 41

कहानी : एक ढोला दूजी मरवण...तीजो कसूमल रंग / मनीषा कुलश्रेष्ठ 43

शख़्सियत : वीर मुंशी - एक अलहदा चित्रकार 53

दो शब्द...

'अनन्य' का सितम्बर-2022 अंक आपके समक्ष है। अनन्य के पहले अंक से ही आप सभी का जैसा स्नेह इस को मिला है, उससे अभिभूत हूँ। अनन्य का यह अंक आपके पास जब तक पहुँचेगा तब तक हिंदी माह का शुभारंभ हो चुका होगा। अमेरिका से प्रारम्भ हुआ 'अनन्य' के माध्यम से हिंदी का यह हंस, विश्व के अन्य पाँच देशों से भी उड़ान भरने लगा है। धीरे-धीरे अन्य देशों तक भी अनन्य पहुँचेगा ही। हिंदी की अलख जगाने के लिए विश्वभर में स्वयंसेवी तत्पर रहते हैं। दुनिया की सभी भाषाओं की यह विशेषता है कि वे समूची वैश्विक-मानवता को अभिव्यक्ति के स्तर पर आपस में जोड़ने का कार्य सदियों से करती चली आ रहीं हैं। हिंदी की यह विशेषता है कि वह सबके साथ घुल-मिल जाती है, हिंदी की इसी मुहिम को 'अनन्य' के माध्यम से थोड़ा और सक्रियता मिल सके यही हमारी आकांक्षा है।

दुनिया भर के छोटे-बड़े देशों में जहाँ-जहाँ हिंदी-प्रेमी हैं, वे वहाँ हिंदी के लिए अपने-अपने स्तर से कुछ न कुछ अवश्य करते रहते हैं। अनन्य हिंदी के वैश्विक क्षितिज पर एक सेतु का कार्य कर सके यह हमारा प्रयास है। यह भी सच है कि संसार की सभी भाषाएँ मनुष्य को बेहतर इंसान बनाने की दिशा में अपने-अपने स्तर से न जाने कब से कार्य करती चली आ रही हैं। दुनिया की लगभग सभी भाषाओं में बेहतरीन साहित्य उपलब्ध है, हमारा प्रयास यह भी रहेगा कि 'अनन्य' अन्य भाषाओं के श्रेष्ठ साहित्य को अनुवाद के माध्यम से हिंदी संसार के समक्ष ला सके और हिंदी के श्रेष्ठ साहित्य से अन्य भाषा-भाषियों को उनकी भाषा में अनुवाद के सहारे उन तक पहुँचा सके, इस दिशा में संभावनाएँ तलाश करनी होंगी, इसके लिए आप सभी का स्वागत है।

दुनिया में जितने देश हैं, जितनी भाषाएँ हैं, जितनी बोलियाँ हैं, जितनी लोक-कलाएँ हैं, जितनी संस्कृतियाँ और लोक-संस्कृतियाँ हैं वे सब मिलकर इस दुनिया को एक खूबसूरत दुनिया बनाने के प्रयास में सदियों से जुटे हुए हैं, ये बात अलग है कि हमने इस खूबसूरत दुनिया के कितने हिस्सों को देख पाया है, महसूस कर पाया है और उसके साथ किस हद तक जुड़ पाये हैं। अनन्य का सपना है कि इस दुनिया की विभिन्न छवियों को हम अधिक से अधिक देख सकें, एक-दूसरे को दिखा सकें।

जिन-जिन देशों से अनन्य का प्रकाशन प्रारंभ हुआ है वहाँ की लोकप्रिय भाषा, वहाँ का साहित्य,

वहाँ की लोक-कला, वहाँ की लोक-संस्कृति आदि-आदि को हिंदी के माध्यम से दिखा सकें, इसके लिए उन हिंदी विशेषज्ञों से जो दूसरी भाषाओं के जानकार हैं, बहुत अपेक्षाएँ रहेंगी। इस हेतु सम्बंधित देश के 'अनन्य' के संपादक ऐसे विशेषज्ञों को खोजकर और उनके माध्यम से ऐसी सामग्री अनन्य के अंकों में दे सकें तो यह हिंदी माह की सबसे बड़ी उपलब्धि होगी।

अनूप भार्गव जी ने 'अनन्य' का एक बड़ा सपना देखा और भारतीय कौंसलावास न्यूयॉर्क के माध्यम से इस सपने को साकार रूप देना शुरू कर दिया है, लेकिन अनन्य को यथार्थ के धरातल पर उतारकर उसमें हिंदी भाषा के माध्यम से वैश्विक साहित्य और संस्कृतियों के खूबसूरत रंग भरने का कार्य हिंदी-प्रेमियों को ही करना है। इसी आशा और विश्वास के साथ आप सभी से इस दिशा में सहयोग की बड़ी अपेक्षाएँ रहेंगी। विजेन्द्र विज जी जैसे अप्रतिम चित्रकार जिस खूबसूरती से अनन्य को कलात्मक रूप–स्वरूप प्रदान करके प्रस्तुत करने में अनन्य–पथ के राही बने हैं, इसके लिए उनका आभार।

हिंदी माह के पुनीत अवसर पर सभी हिंदी-प्रेमियों और 'अनन्य' के सभी सहयोगी अंकों के संपादकों तथा उनकी संपादकीय टीम को हार्दिक शुभकामनाएँ। आशा है अनन्य का यह अंक भी आपकी अपेक्षाओं पर खरा उतरेगा और आपकी प्रतिक्रियाओं व सुझावों की प्रतीक्षा रहेगी।

-जगदीश व्योम
सम्पादक- अनन्य

मनोज जैन 'मधुर'

ग्राम बामौर कला, जिला शिवपुरी (मध्य प्रदेश) में जन्म भोपाल में निवास, सुप्रसिद्ध नवगीतकार, दो नवगीत संग्रह प्रकाशित, 'वागर्थ' फेसबुक समूह के माध्यम से नवगीत का प्रचार-प्रसार.

ईमेल - manojjainmadhur25@gmail.com

चाँद सरीखा मैं अपने

चाँद सरीखा मैं अपने को,
घटते देख रहा हूँ
धीरे-धीरे
सौ हिस्सों में,
बँटते देख रहा हूँ

तोड़ पुलों को, बना लिए हैं
हमने बेढब टीले
देख रहा हूँ मैं संसृति के,
नयन हुए हैं गीले
नयी सदी को परंपरा से,
कटते देख रहा हूँ
चाँद सरीखा...

अधुनातन शैली से पूछें
क्या खोया क्या पाया
कठपुतली-से नाच रहे हम,
नचा रही है छाया
घर-घर में ज्वालामुखियों को
फटते देख रहा हूँ
चाँद सरीखा...
तन-मन सब कुछ हुआ विदेशी
फिर भी शोक नहीं है
बोली-वाणी-सोच नदारद
अपना लोक नहीं है
छद्म शोध से शुद्ध बोध को
हटते देख रहा हूँ।
चाँद सरीखा...

मेरा मैं टकरा-टकराकर,
घाट-घाट पर टूटा
हर कंकर में शंकर वाला,
चिंतन पीछे छूटा
पूरब को पश्चिम के मंतर,
रटते देख रहा हूँ
चाँद सरीखा...

काश, हम होते नदी के

काश! हम होते नदी के
तीर वाले वट
हम निरंतर भूमिका
मिलने-मिलाने की रचाते
पाखियों के दल उतरकर
नीड़ डालों पर सजाते
चहचहाहट सुन हृदय का
छलक जाता घट!
काश! हम होते...
नयन अपने
सदानीरा से मिला
हँस-बोल लेते
हम लहर का परस पाकर
खिलखिलाते, डोल लेते
मन्द मृदु मुस्कान बिखराते
नदी के तट
काश! हम होते...

साँझ घिरती, सूर्य ढलता
थके पाखी लौट आते
पात-दल अपने हिलाकर
हम रुपहला गीत गाते
झुरमुटों से झाँकते हम
चाँदनी के पट
काश! हम होते...

देह माटी की पकड़कर
ठाठ से हम खड़े होते
जिन्दगी होती तनिक-सी
किन्तु कद में बड़े होते
सन्तुलन हम साधते ज्यों
साधता है नट
काश! हम होते
नदी के तीर वाले वट!

■

-मनोज जैन 'मधुर'

धर्मवीर भारती जी को याद करते हुए-

4 सितम्बर 2022 को सुप्रसिद्ध साहित्यकार डा० धर्मवीर भारती जी की 25वीं पुण्य तिथि है।

80 के दशक में मुम्बई में उन से कुछ संक्षिप्त लेकिन बहुत मीठी मुलाक़ातें रहीं। अपने कॉलेज के दिनों में पढ़ी 'कनुप्रिया' मुझ पर कुछ इस कदर हावी हुई कि भविष्य में अपनी होने वाली बेटी का नाम तय हो गया। अब हमारी 'कनुप्रिया' अपने कॉलेज की पढ़ाई ख़त्म कर रही हैं। पुष्पा भारती जी से न्यूयॉर्क में 2007 में हुए विश्व हिंदी सम्मेलन में मुलाक़ात हुई, तब से कुछ उनसे ऐसा जुड़ाव हुआ कि उनसे मुझे अब तक अनवरत रूप से पुत्रवत स्नेह मिलता रहा है। इस बार उन्होंने हमारे अनुरोध पर अस्वस्थ होते हुए भी अपने हाथ से दो पृष्ठ का भारती जी को याद करते हुए आलेख लिखा जो इस अंक की उपलब्धि है।

साथ ही 'धरोहर' में पढ़िए भारती जी का एक बेहद कोमल सा 'नवगीत' जिसे आप सुन भी सकते हैं- इसे अपनी आवाज़ दी है- इंदौर से 'वैशाली काशीकर बकोरे' जी ने।

साथ ही भारती जी को याद करते हुए 'अमृत लाल नागर' जी का एक महत्वपूर्ण आलेख जिसे उन्होंने अपनी विशिष्ट शैली में लिखा है.

-अनूप भार्गव

धर्मवीर भारती को याद करते हुए-

-पुष्पा भारती की कलम से

25 दिसंबर सन 1926 को भारती जी का जन्म एक आर्यसमाजी परिवार में हुआ था। माँ कट्टर आर्यसमाजी थीं। उन्होंने इलाहाबाद (अब प्रयागराज) में तरह तरह की कोशिशों से स्वयं आर्य कन्या विद्यालय की स्थापना की थी। परन्तु पिता एक समझदार आर्य समाजी थे। उन्होंने अपने पुत्र को "सत्यार्थ प्रकाश",पढ़ने की प्रेरणे तो दी लेकिन उसे हर तरह की किताबें पढ़ने को लाकर दीं, जैसे 'चंद्रकांता संतति', 'भूतनाथ','रक्त मंडल', 'चाँद का फाँसी अंक', 'भारत में अंग्रेज़ी राज', 'महात्मा गाँधी की आत्मकथा', 'चंद्रशेखर आज़ाद', और 'भगत सिंह' की जीवनीयाँ इत्यादि। और बालक धर्मवीर 'रक्त मंडल' की तरह अंग्रेजों के विरुद्ध सशस्त्र क्रांति करने के स्वप्न भी देखने लगा था। पर दुर्भाग्य से 1939 में निमोनिया हुआ और पिता का देहांत हो गया। ग़रीबी में गुज़ारा हो रहा था - कर्ज़ उतारने और गुजर बसर लायक कुछ कमाने की दृष्टि से माँ छोटी बहन को साथ लेकर गुरुकुल में नौकरी करने चली गयीं और पुत्र को अपने दूर के रिश्ते के भाई श्री अभय कृष्ण जौहरी के संरक्षण में छोड़ गयीं। मामा के परिवार में उन्हें बहुत ममता मिली। और खूब पढ़ने लिखने के लिए प्रोत्साहन मिला। बीच में सन 42 के आंदोलन में भाग भी लिया। हेमवती नंदन बहुगुणा के नेतृत्व में युवकों की एक टोली बनी, उस क्रांतिकारी दल में शामिल हो गए।

मामा जी ने कहा कुछ भी करो पढाई किसी भी हाल में छोड़नी नहीं है। बी.ए., एम. ए. तक की पढाई ट्यूशनों के सहारे चलती रही। 'अभ्युदय', 'संगम' और 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' में नौकरी भी की।

यही समय था जब वे दादा माखनलाल चतुर्वेदी के संपर्क में आये। उन्होंने उन्हे मौलिक लेखन के लिए बहुत प्रेरणा दी और छहों भारतीय दर्शन, वेदांत तथा विस्तार से वैष्णव और संत साहित्य पढ़ने को दिए। फलतः भारतीय चिंतन की मानववादी परंपरा उनके चिंतन का मूल आधार बन गयी। और धीरे धीरे एक के बाद एक रचनाएँ जन्म लेने लगीं। 'गुनाहों का देवता' 1949 में छपी है और आज तक सर्वाधिक बिकने वाली कृतियों में शामिल हो गयी। 2021 तक सजिल्द और पेपरबैक संस्करणों को मिलाकर उसके 150 संस्करण तो मेरे सामने हैं- और विश्वास है की आगे भी होते रहेंगे - इस उपन्यास से लेकर 'अंधायुग' और 'कनुप्रिया' जैसी कालजयी कृतियां हिंदी साहित्य की अमूल्य धरोहर बन चुकी हैं। भारती जी ने केवल उपन्यास या कविता ही नहीं - साहित्य की हर विधा में लिखा है और जो भी लिखा वह अनगिनत पाठकों द्वारा

प्रेम से पढ़ा जाता रहा है।

1960 में धर्मयुग के संपादन में अहर्निश इतना परिश्रम किया कि पत्रिका तो देश की विलक्षण और अद्वितीय साप्ताहिक पत्रिका बन गई, पर उनका लेखन कम होता गया। फिर भी बीच बीच में जो लिखने का छिटपुट समय निकाल पाए, उसमे से केवल दो उदाहरण देती हूँ - 'मुनादी' और 'बंद गली का आखिरी मकान', पढ़ कर देखिये और आप पाएंगे कि अविस्मरणीय धाती बन जाएगी, वह आपके लिए।

'हरि अनंत, हरि कथा अनंता' उनके विषय में कहने को तो अभी बहुत बहुत कुछ शेष है , पर फ़िलहाल इतना ही।

मैनें उनके मानवतावादी वैष्णव चिंतन की बात करी थी न , उसका एक मधुर उदाहरण देकर बात ख़त्म करूंगी। जरा देखिये भारती जी चुम्बन को किस निगाह और आस्था से देखते हैं :-

"तप्त माथे पर, नज़र में बादलों को साधकर,
रख दिए तुमने सरल संगीत से निर्मित अधर,
आरती के दीपकों की झिलमिलाती छाँह में,
बाँसुरी रक्खी हुई ज्यों भागवत के पृष्ठ पर"

-पुष्पा भारती

भारती जी का एक नवगीत-

‘ये अनजान नदी की नावें’

ये अनजान नदी की नावें
जादू के से पाल
उड़ातीं
आतीं
मंथर चाल।

नीलम पर किरनों
की साँझी
एक न डोरी
एक न माँझी,
फिर भी लाद निरंतर लातीं
सेंदुर और प्रवाल!

कुछ समीप की
कुछ सुदूर की,
कुछ चन्दन की
कुछ कपूर की,
कुछ में गेरू,
कुछ में रेशम
कुछ में केवल जाल।

ये अनजान नदी की नावें
जादू के-से पाल
उड़ातीं
आतीं
मंथर चाल।

-धर्मवीर भारती

इस गीत को सुनने के
लिए यहाँ क्लिक करें »

भारती शतायु हों-

-अमृतलाल नागर

सन 47 में बम्बई का फ़िल्मी जीवन छोड़कर फिर उत्तर प्रदेश आ गया। मेरी सास उन दिनों आगरा में गम्भीर रूप से बीमार थीं, इसलिए कुछ महीनों तक आगरा में ही रहा। बीच-बीच में दो-एक बार संयोगवश लखनऊ भी आया था। मेरे बाल्यकालीन परम मित्र और सहपाठी श्री ज्ञानचंद जैन भी इलाहाबाद छोड़कर लखनऊ के दैनिक 'नवजीवन' में काम करने के लिए आ गये थे। उनसे इलाहाबादी साहित्यिक मित्रों की चर्चा करते हुए एक-दो बार भारती का नाम सुना। मैंने पूछा : "यह कौन है भई?"

ज्ञानचंद जी झुँझलाकर बोले : "तुमने भारती का नाम नहीं सुना, पंडित जी?"

"यार, पिछले सात बरसों में फ़िल्मी पंडित रहा हूँ। यदि संयोग से नाम नहीं सुना तो तुम मुझ पर इतना नाराज़ क्यों होते हो !"

"भारती हमारे इलाहाबाद का उगता सितारा है। आजकल इलाहाबाद में क्या छोटे क्या बड़े सभी साहित्यिकों से तुम धर्मवीर भारती के चर्चे सुन सकते हो।"

उसके कुछ ही रोज़ बाद कलकत्ते से प्रकाशित होने वाली मासिक पत्रिका 'रानी' में धर्मवीर भारती की एक कहानी पढ़ी, 'हरनाकुस का बेटा।' कहानी बहुत अच्छी लगी। फिर लौटकर इस इरादे से आगरा चला गया कि पत्नी को वहाँ से लखनऊ ले आऊँ। आगरे में एक दिन संयोग से स्व० महेंद्र जी की दूकान (साहित्य रत्न भंडार) गया था। वहाँ भारती की लिखी एक छोटी-सी औपन्यासिक रचना देखने को मिली। मैंने महेंद्र जी से पूछा : "इस लेखक की आजकल बड़ी चर्चा है !"

"हाँ, इनका एक उपन्यास और भी निकल चुका है—गुनाहों का देवता।"

"आपके पास है?"

कुछ लिखा-पढ़ी में व्यस्त गंभीर स्वभाव के महेंद्रजी बोले : "कुछ प्रतियाँ आयी थीं वे बिक गयीं। अब फिर मँगायी हैं।"

श्रद्धेय स्वर्गीय गुलाबराय जी वहाँ बैठे थे। आगरे की एक साहित्यिक गोष्ठी में मेरे 'सेठ बांकेमल' का कुछ अंश सुनकर वह मुझसे बहुत प्रसन्न हो गये थे। गुलाबराय जी जितने गंभीर अध्येता थे उतने ही मीठे और चुटकीबाज़ भी थे। किसी किताब पर नजर गड़ाए हुए ही मुसकराकर बोले : "इसे ले जाओ। माणिक-मुल्ला तुम्हें अच्छे लगेंगे।"

किताब ले आया, नया औपन्यासिक प्रयोग था।

उसके कुछ ही दिनों बाद पत्नी को लेकर मैं लखनऊ आ गया। सुप्रसिद्ध लेखक और पत्रकार ख़्वाज़ा अहमद अब्बास ने उन्हीं दिनों बम्बई से

‘सरगम’ नाम का एक पत्र निकाला था। उसमें भारती की एक रचना फिर पढ़ने को मिली और वह अच्छी लगी। मैंने ज्ञानचंद से कहा: “अबकी जब इलाहाबाद जाऊँगा तो भारती से अवश्य मिलूँगा।”
“अरे वहाँ तो वह पाठक जी के यहाँ रोज़ आते हैं।”

संयोग की बात, सन् 48 में ही एक काम से इलाहाबाद जाने का अवसर मिला। जहाँ तक याद पड़ता है, उसी समय लीडर प्रैस से स्व० पंडित इलाचंद्र जी जोशी के संपादन में एक नयी पत्रिका ‘संगम’ का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ था। ज्ञानचंद के लखनऊ आ जाने के कारण मैंने पाठक (स्व० वाचस्पति जी पाठक) के यहाँ ही डेरा डाला। सबेरे जलपान करते समय ही बातों के प्रसंग में मैंने पाठक जी से कहा था- “इस बार धर्मवीर भारती से अवश्य मिलूँगा।”

“भारती तो अब यहीं काम करने लगे हैं, मैं मिलवा दूँगा।” “ज्ञानचंद तो कहते थे कि वह रिसर्च कर रहे हैं।”

“हाँ, कर रहे हैं और यहाँ भी काम करते हैं।”
लेकिन उस दिन भारती ‘संगम’ कार्यालय में किसी कारणवश नहीं आये।
दूसरे दिन एक दुबला-पतला, छरहरे बदन का युवक पाठक जी के घर के सामने ही साइकिल से उतरा। उसे देखते ही पाठकजी बोले : “आ गये भारती।”

भारती कमरे में आये ।पाठक जी ने परिचय कराया और उनसे कहा : “ये कल से तुम्हें पूछ रहे थे।”

बहुत-से ऐसे साहित्यिक होते हैं जिनसे परिचय होने पर अंतरंग होने में देर नहीं लगती। घंटे-भर में ही हम दोनों के ठहाके एक-दूसरे में ऐसे घुल-मिल गये कि लगता था कि बरसों का साथ हो। मुझे इस समय ठीक तो याद नहीं, पर शायद उन दिनों या उसके कुछ समय के बाद ही भारती ‘परिमल’ नाम की एक संस्था चलाने लगे थे।

केशवचंद्र वर्मा, जगदीश गुप्त, विजयदेवनारायण साही, रामस्वरूप चतुर्वेदी, हरि मोहनदास टंडन आदि भारती की मित्रमंडली से भी घुलने-मिलने में मुझे देर न लगी। ‘परिमल’ की एक या दो गोठियों में भी सम्मिलित होकर मैंने बहुत ही सुख पाया। इलाहाबाद के लगभग सभी नये-पुराने नाम-चीन्ह लेखक और कवि उसमें भाग लेते थे। भारती उन दिनों नाथ सम्प्रदाय पर शोध कर रहे थे। उनके सम्बन्ध में भी अनेक नयी सूचनाएँ मैंने भारती से पायीं, अत्यन्त प्रभावित हुआ। श्रद्धेया जीजी महादेवी जी ने साहित्यकार संसद की स्थापना की थी। निराला जी संसद की गंगास्थित आलीशान कोठी में रहने लगे थे। भारती के साथ मैं उनके दर्शनार्थ वहाँ भी गया था। बाद में आदरणीया जीजी ने स्वर्गीय पंडित गोविन्दबल्लभ जी पन्त से नैनीताल के पास ताकुला में भी साहित्यकारों के लिए एक बड़ी जगह पा ली थी। वहाँ उन्होंने साहित्यिकों का एक बड़ा जमावड़ा भी जुटा लिया था। मराठी के स्वनाम धन्य नाटककार स्वर्गीय मामा वरेरकर तथा कवि श्री बोरकर जी भी उस ताकुला गोष्ठी में सम्मिलित हुए थे। निमंत्रण तो मुझे भी मिला, परन्तु आकाशवाणी में नयी-नयी नौकरी पाने के कारण मेरा वहाँ जाना संभव न हो सका। वहाँ से लौटकर भारती मुझसे मिलने के लिए लखनऊ आये । वह तब डॉक्टर हो चुके थे और

इलाहाबाद विश्वविद्यालय में व्याख्याता भी हो गये थे। ताकुला की सरगर्मियों का विस्तृत ब्यौरा दे लेने के बाद उन्होंने मुझसे कहा : "जीजी ने कहलाया है कि आप भारतेन्दु के जीवन पर आधारित एक नाटक लिखें और उसके मंचन के लिए इलाहाबाद भी आयें। जीजी ने माधुर जी से आपके इलाहाबाद आने के सम्बन्ध में भी बात कर लेने का आश्वासन दिया है।"

स्व० जगदीशचंद्र जी माधुर उन दिनों आकाशवाणी के महानिदेशक थे। लगभग एक महीने में मैंने 'युगावतार' नाटक लिख लिया और उसे लेकर इलाहाबाद पहुँच गया। स्वर्गीय भारतभूषण अग्रवाल के टैगोर-टाउन स्थित घर में डेरा डाला। श्रद्धेय सुमित्रानन्दन पन्त और स्वर्गीय बालकृष्ण राव भी उन दिनों टैगोरटाउन में रहते थे। श्रीमती शान्ति मेहरोत्रा और केशवचन्द्र वर्मा भी वहीं निवास करते थे। भारती से लगभग नित्य ही भेट होती रहती थी। वह दिन में एक बार साइकिलारूढ़ होकर नियमित रूप से टैगोर-टाउन आकर मुझसे अवश्य ही मिल जाते थे। प्रति रविवार को सबेरे के समय केशव के घर पर भी घंटे-दो-घंटे की हँसी-चुहल भरी बैठकें होती रहती थीं। वहीं भारती की कविताएँ सुनने के अवसर भी मुझे कई बार मिले। मुझे याद है, उन्हीं दिनों जाने किसी ने मुझसे कहा था : "भारती से आपकी खूब पटती है, यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता है।"

मैंने कहा : "इसमें आश्चर्य की क्या बात है ?"
वह बोले : "कोई ख़ास बात नहीं, फिर भी भारती के हँसी-ठहाके बहुत नकली होते हैं। वह बड़ा स्नॉब और घमंडी आदमी है।"
सुनकर मुझे अच्छा न लगा। मेरे साथ भारती का व्यवहार बहुत ही सहज और प्रेम-भरा था। याद नहीं मैंने इसका क्या उत्तर दिया था, पर यह अवश्य कहा था: "अरे भाई, स्नॉब तो इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में सभी हैं। आखिर वह आई सी० एस० मेकिंग यूनिवर्सिटी है। हमारे भगवती बाबू भी क्या कम (स्नॉब) है। नरेन्द्र शर्मा भी इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के ही प्रॉडक्ट हैं। जब इन लोगों से मेरी इतनी घनिष्ठता हो गयी तब भारती से क्यों न हो?"

मेरी अपनी धारणा तो यह है कि भारती 'स्नॉब' नहीं, हाँ वह खरी और बेलाग बात ज़रूर करते थे। यह भी अजीब संयोग है कि इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के इन तीनों तथाकथित स्नॉबों से मेरे स्नेह-सम्बंध अग्रज-अनुजवत ही प्रगाढ़ रहे हैं।

श्रद्धेय भगवती बाबू से तो बहस करते-करते अक्सर झगड़ा भी हो जाता था, पर नरेन्द्र जी और भारती से मेरा झगड़ा कभी नहीं हुआ।

भारती उन दिनों इलाहाबाद की रूहे-रवाँ थे। स्वर्गीय भाई ओमप्रकाश जी ने, जो तब राजकमल प्रकाशन लिमिटेड के मैनेजिंग डायरेक्टर थे, उन दिनों अपनी त्रैमासिक 'आलोचना' पत्रिका को इलाहाबाद में ही लाकर जमा दिया था। भारती उसके सम्पादक बने। बाद में उन्होंने वहीं से एक और त्रैमासिक 'निकष' का प्रकाशन और सम्पादन भी किया। तब तक मैं रेडियो की नौकरी से फ़ारिग-उल-बाल हो चुका था।

एक दिन लखनऊ रेडियो में केशवचन्द्र वर्मा से भेंट हुई। तब तक यह उड़ती ख़बर मेरे कानों में पड़ चुकी थी कि स्वर्गीया श्रीमती रमा जैन महोदया ने भारती को ‘धर्मयुग’ का सम्पादन-भार ग्रहण करने के लिए आग्रहपूर्वक आमंत्रित किया है। मैंने केशव से इस सम्बन्ध में पूछा । केशव बोले : “हाँ, बात तो चल रही है, मगर भारती नखरे दिखला रहे हैं।”

मैंने कहा : “उनसे कहना, नखरे न दिखलायें और ‘धर्मयुग’ सम्हाल लें। मैं खुद यह मानता हूँ कि भारती उसके योग्य सम्पादक साबित होंगे। कह देना, चले जायें, मैंने ज़ोर देकर कहा है।”

इसके बाद बम्बई से भारती का पत्र आया, लिखा था: “आपके ज़ोर देने से मैं यहाँ आ तो गया, पर अब आप भी मुझे बल दीजिये।”

यों तो सत्यकाम जी विद्यालंकार के सम्पादन-काल में भी मैं ‘धर्मयुग’ में लिखता था, पर भारती के वहाँ पहुँच जाने के बाद मैंने ‘धर्मयुग’ के लिए काफ़ी रचनाएँ लिखीं।

‘धर्मयुग’ के सम्पादक बनकर भारती ने मेरे मनोविश्वास के अनुसार कितना काम किया और पत्र को किस तरह उन्नति के शिखरों पर चढ़ाया, इसके सम्बन्ध में भला क्या कहूँ, ‘हाथ कंगन को आरसी क्या।’ उन्होंने उर्दू तथा भारतीय भाषाओं के अनेक स्वनामधन्य लेखकों को ‘धर्मयुग’ के मंच पर एकत्रित कर लिया। हिन्दी की लड़ाई भी जी खोल कर लड़ी। ‘धर्मयुग’ के एक से एक बढ़कर विशेषांक निकाले और जैसे वह इलाहाबाद में साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधियों के सरताज बने हुए थे वैसे ही बम्बई में भी बन गये।

एक बार मेरे बम्बई पहुँचने के दूसरे ही दिन उन्होंने ‘नवभारत टाइम्स’ में मेरे बम्बई आने का समाचार छपा दिया। यह ख़बर छपनी थी कि सभा-समारोहों के आयोजकों को उत्साह के पंख लग गये। क़रीब-क़रीब रोज़ ही घेरा जाने लगा।

मैंने झुँझला कर भारती से कहा: “अब यह काम मत करना, अरे मैं यहाँ मौजबहार के लिए आता हूँ और रोज़ ससुरी एक-न-एक मीटिंग में मुझे फँसना पड़ता है। फिर लखनऊ और बम्बई में मेरे लिए अन्तर ही क्या रह जाता है?”

भारती हँसे, कहा: “इसके लिए आपको मुझे फ़ीस देनी पड़ेगी।”

“क्या?”

“जब तक आप यहाँ रहें तब तक मेरे लिए दो या तीन रचनाएँ अवश्य लिख जाया करें।”

मैंने कहा, “यह भी नहीं करूँगा। यहाँ गप्प-शड़ाके लगाने के लिए आता हूँ और तुम मुझे यहाँ भी रोज के रूटीन में बाँध देना चाहते हो।”

“अच्छा तो कल के ‘नवभारत’ में अपने सम्बन्ध में नया शिगूफ़ा पढ़ लीजियेगा।”

“हाथ जोड़ता हूँ भाई, तुम कोई नया तमाशा न खड़ा करना। मैं तुम्हारे लिए जो कहोगे लिख जाया करूँगा।”

उन्हीं दिनों बातों के प्रसंग में मैंने एक दिन कह दिया कि मेरे पास वृन्दावन में साहजी का मन्दिर बनवाने वाले कृष्ण-भक्त कवि ललितकिशोरी जी के वसीयतनामे की एक नकल है जिसमें उन्होंने उक्त मन्दिर की व्यवस्था के लिए कई आदेश दिये हैं। ललितकिशोरी जी (साह कुन्दनलाल) के सम्बन्ध में और भी कई बातें मैंने उन्हें बतायीं। वह उत्साह में आ गये, बोले : “बस आप अब ललितकिशोरी जी पर एक उपन्यास लिख डालिये, मैं ‘धर्मयुग’ में अभी से ही एनाउन्स किये देता हूँ।”

"अरे यह न करना भाई, मुझे लखनऊ जाकर साहजी के रिश्तेदारों से कुछ और सूचनाएँ संग्रहीत कर लेने दो, तब जमकर लिखूंगा।" मैं साहजी की कोठी में ही किरायेदार की हैसियत से रहता हूँ और उनके परिवार वालों से मेरे सम्बन्ध घर जैसे ही हैं। ललितकिशोरी जी के वसीयतनामे की नकल मुझे स्वर्गीय साह मदनमोहन जी से ही मिली थी जो उन्होंने किसी मुक़द्दमे में सम्बन्ध में ही प्राप्त की। स्वर्गीय साह जी के वृद्ध चाचा स्वर्गीय बालकृष्णदास जी से मुझे ललितकिशोरी (साह कुन्दन लाल) और उनके अनुज ललित माधुरी (साह फुन्दन लाल) के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें सुनने को मिलीं। वे सब बातें सुनकर मुझे लगा कि यह प्रस्तावित उपन्यास मुझे नहीं लिखना चाहिए। मैंने भारती को इसी आशय का पत्र भी लिख दिया। भारती का पत्र आया-"ठीक है, पर इसके बदले में आप मुझे और क्या देंगे?"

"अरे बाबा, इतनी सौदेबाज़ी न करो, फिर भी इसके एवज में मैं तुम्हें कुछ-नकुछ अवश्य दूंगा।" परन्तु बाद में बानक कुछ ऐसे बने कि दो-एक छोटी-मोटी रचनाएँ छोड़कर मैं 'धर्मयुग' में धारावाहिक प्रकाशन के लिए कोई उपन्यास न दे पाया।

सन् 71 में अपने चि० भतीजों का यज्ञोपवीत करने के लिए मैं सपरिवार बम्बई गया था। वहाँ एक दिन अपने परमप्रिय सखा ख्यातनामा फ़िल्म-निर्देशक स्वर्गीय महेश कौल से बातें करते हुए मेरे मन में गोस्वामी तुलसीदास जी की जीवनी के आधार पर एक उपन्यास लिखने की स्फूर्ति मिली। इस प्रकार 'मानस का हंस' लिखा और बार-बार उपन्यास लिखने का आग्रह करने के कारण ही मैंने उसे प्रिय भारती को अर्पित भी किया।

सन् 80 की सर्दियों में किसी बहाने से भारती लखनऊ आये थे। मेरी स्वर्गीय पत्नी से उनकी बातें होने लगी। किसी छेड़-भरी बात के बहाने ही मैंने तब यह कहा था कि आगामी 31 जनवरी 81 को इन्हें मैरी खोपड़ी पर नाचते हुए पचास बरस हो जायेंगे।

भारती बोले : "तब तो पुरानी प्रथा के अनुसार 50 बरस बाद आपको इनसे फिर से विवाह करना पड़ेगा।"

मैंने कहा : "अरे अब मैं इनसे ब्याह-व्याह नहीं करूँगा।"

"वाह कैसे नहीं करेंगे ! आप भारतीय संस्कृति के इतने बड़े अलम्बरदार हैं तो आपको यह रीति भी निभानी ही पड़ेगी और भाभी, मैं इनका सहबाला बनूँगा।"

उसके कुछ ही दिनों बाद मेरी बड़ी बेटी अचला लखनऊ आयी। प्रतिभा ने प्रसंगवश भारती के सहबाला बनने की बात उससे कह दी। बस वह पीछे ही पड़ गयी। अपने माता-पिता के सम्बन्ध में उसने एक लेख लिखा और 'धर्मयुग' में छपा भी दिया। 'धर्मयुग' में अपनी इतनी ख्याति हुई देखकर प्रतिभा अपने देवर (भारती) से बड़ी ही प्रसन्न हुई। उन्होंने भी पूरी रस्म निबाही। चि० देवर, सौ० देवरानी और चि० भतीजे-भतीजियों के लिए अचला की मार्फ़त कपड़े-मिठाइयाँ

भेजीं। भारती ने भी उन्हें एक शाल भेजा जिसका उल्लेख उन्होंने अपने लेख 'उजास की धरोहर' में किया है।

भारती मेरे लिए अब कोरे साहित्यिक ही नहीं रहे, बल्कि परिवार के एक अंग ही बन गये हैं। उनके कर्मठ जीवन के साठ वर्ष पूरे हुए। राम करें वह साठ वर्ष और जियें। अभी पिछली बार दो या तीन महीने पहले वे लखनऊ आये थे। मैंने कहा: "यार हिन्दी ने 'धर्मयुग' जैसा पत्र और 'धर्मयुग' ने तुम्हारा जैसा सम्पादक अवश्य पाया, पर हिन्दी ने अपना एक अत्यन्त प्रतिभाशाली कृती साहित्यकार खो दिया, इसका मुझे बड़ा दुख है।"
भारती बोले : "क्या करूँ! 'धर्मयुग' का काम करते ही रात के 8-9 बज जाते हैं, फिर कुछ लिखने का हौसला ही नहीं रहता।" - बात सच है, फिर भी बड़े भाई की तरह यह मोह-भरी कामना तो अवश्य ही करता हूँ कि-'कनुप्रिया', 'अंधायुग', 'बन्द गली का आखिरी मकान' जैसी गद्य एवं पद्य की सुन्दर रचनाएँ देने वाला मेरा यह यशस्वी अनुज अभी कुछ और भी अविस्मरणीय रचनाएँ हिन्दी को दे। राम करें ऐसा ही हो। नाना तो बन ही गया है, दादा भी बने और ख़ूब सुख पाये।

■

अशोक भाटिया

अम्बाला छावनी (पूर्व पंजाब) में जन्म, सेवा-निवृत्त एसोसिएट प्रोफेसर, लघुकथा, कविता, आलोचना, बाल साहित्य, व्यंग्य, ज्ञान साहित्य की लगभग बयालीस पुस्तकें। लघुकथा पर विशेष कार्य।

ईमेल - ashokbhatiahes@gmail.com

ज़िन्दगी

-अशोक भाटिया

मेरा दोस्त उदय इसी गली में रहता था। कॉलेज के दिनों में मैं अक्सर उसके घर आया करता। एक बार वह किसी भावना की दुनिया में खो गया था। उसने बताया कि सुधा की आँखों के नूर ने उसके मन की झील में हलचल मचा दी है। अब वह सपनों में डूबा रहता। तब मुझे लगा कि ज़िन्दगी प्यार की तरह सुन्दर और मुलायम, सपनों की तरह मोहक तथा भावुक होती है, जिसे गाया जाता है...

बाद में नौकरी मिलने पर उदय कहीं दूर चला गया था। कुछ समय बाद उस गली के बाहर सड़क किनारे एक ठेला-मजदूर ने अपनी झोपड़ी खड़ी कर ली।

मैं रोज़ उधर से गुज़रता। कई बार मैंने देखा कि शाम को वह मजदूर अपने कठोर हाथ हिलाता, धीरे-धीरे अपनी झोपड़ी की तरफ बढ़ रहा होता । उसके दोनों नंगे बच्चे एल्युमीनियम की खाली पतीली के पास बैठे हुए टुकर-टुकर अपने बाप को देखते। उनकी माँ की सूनी आँखें समझ जातीं कि चूल्हे की तरह उन्हें आज भी बुझे रहना है। तब मुझे लगा कि ज़िन्दगी किसी मजदूर के हाथों-सी कठोर और भूखे बच्चों के पेट-सी खाली होती है। ज़िन्दगी माँ की आँखों-सी सूनी, कपड़ों-सी फ़टी और मैली, दिख रहे बदन-सी नंगी और बेबस होती है, जिसे ठेले की तरह खींचा जाता है।

क्या होती है ज़िन्दगी ? मैं सोचता रहा। आखिर एक दिन उदय मिल गया। मैंने उसे मजदूर की बात बताई।

उसने कहा- ज़िन्दगी इसके अलावा भी बहुत कुछ होती है।

मैंने पूछा- क्या वह मजदूर यह बात जानता है ?

■

पवन कुमार

मैनपुरी (उत्तर प्रदेश) में जन्म, सुप्रसिद्ध ग़ज़लकार, भारतीय प्रशासनिक सेवा के वरिष्ठ अधिकारी, कई ग़ज़ल संग्रह प्रकाशित, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान के निदेशक.

ईमेल - singhsdm@gmail.com

गजलें

-पवन कुमार

कहीं दरिया नहीं होता कहीं सहरा नहीं होता
ज़रूरत पर हमारी कोई भी अपना नहीं होता

कहानी ख़त्म हो जाती कोई सदमा नहीं होता
बिछड़ते वक़्त वो छिपकर अगर रोया नहीं होता

तुम्हारी याद के साये में यूँ हर वक़्त रहता हूँ
मैं तनहा रह भी जाऊँ तो कभी तनहा नहीं होता

मुहब्बत में यही नज़्ज़ारगी तो लुत्फ़ देती है
कोई खिड़की नहीं होती कोई परदा नहीं होता

तसल्ली और दिलासे सब-के-सब बेकार जाते हैं
न जाने किस तरह बिखरा हूँ मैं यकजा नहीं होता

उसे तुम धूप में, बरसात में, कोहरे में रख देखो
'पवन' वो आईना है जो कभी धुँधला नहीं होता

2.
कलेजा रह गया उस वक़्त फट कर
कहा जब अलविदा उस ने पलट कर

तसल्ली किस तरह देता उसे मैं
मैं ख़ुद ही रो पड़ा उस से लिपट कर

अकेला रह गया हूँ कारवाँ में
कहाँ तक आ गई तादाद घट कर

न कोई अक्स बाक़ी था न सूरत
रखा जो आइना मैं ने उलट कर

परिंदा और उड़ना चाहता था
उफ़ुक़ ही रह गया ख़ुद में सिमट कर

न बच पाएँगे पर्बत बंदिशों के
मोहब्बत की नदी निकली है कट कर

3.
ज़मीं को नाप चुका आसमान बाक़ी है
अभी परिंदे के अंदर उड़ान बाक़ी है

बधाई तुम को कि पहुँचे तो इस बुलंदी पर
मगर ये ध्यान भी रखना ढलान बाक़ी है

मैं अपनी नींद की किस्तें चुकाऊँगा कब तक
तुम्हारी याद का कितना लगान बाक़ी है

मैं एक मोम का बुत हूँ तू धूप का चेहरा
बचेगी किस की अना इम्तिहान बाक़ी है

मुझे यक़ीन है हो जाऊँगा बरी इक दिन
मिरे बचाव में उस का बयान बाक़ी है

ये बात कह न दे सैलाब से कोई जा कर
तमाम-शहर में मेरा मकान बाक़ी है

उर्मिला शिरीष

दतिया, मध्य प्रदेश में जन्म। वर्तमान में भोपाल में निवास। 17 से अधिक कहानी संग्रह के साथ उपन्यास, जीवनी, साहित्यकारों के साक्षात्कार की पुस्तक प्रकाशित। कई पुरस्कारों से सम्मानित।

ईमेल - urmilashirish@hotmail.com

ये इश्क नहीं आसां..

-उर्मिला शिरीष

''आजकल फेसबुक पर नयी-नयी पिक्चरें पोस्ट कर रही हो? क्या बात है।''
''बस यूँ ही मन करता है।''
''इतनी पुरानी फोटोज देखकर हम अपने पुराने दिनों में, क्यो लौट जाते
हैं।''
''पुराने दिनों में, पुरानी यादों में, पुराने सम्बंधों की दुनिया में।''
''पुराने सम्बंधों की दुनिया में? कैसे सम्बंध?''
''दोस्ती के, प्रेम के!''
''प्रेम के!''
अनामिका चुप रही। उसे चुप देखकर लीला ने उसके दोनों हाथों को अपने हाथों में लेकर कहा
''क्या छुपा रही हो?''
''कुछ भी तो नहीं।''
''कुछ तो।''
''देख रही हूँ इधर तुम्हारे जीवन में काफी बदलाव आया है।''
''कैसा बदलाव।''
''खूबसूरत बदलाव। इस उम्र में आकर महिलाएँ थकी-थकी बीमार, जिम्मेदारियों के बोझ से दबी, नकारात्मक सोच रखने लगती हैं। अपने रंग-रूप, पहनावे को लेकर लापरवाह हो जाती हैं। पर तुम ठीक इसके विपरीत अपने जीवन को सँवारकर सुंदर बना रही हो।''
''यह अच्छी बात है...या....।''
वह मन ही मन मुस्कायी। यह सब वह अपने लिए नहीं किसी और के लिए करती हैं उसके भीतर एक बाईस साल की लड़की आकर बैठ गयी है, उसकी अलमारियाँ खोलती है, उसके कपड़े और रंग चुनती है उसको घूमने के लिए भेजती है। उसके बगीचे में जाकर गमलों की देखभाल करती है, जो फूलों के साथ अपने फोटो खींचती है। बाईस साल की ये लड़की उसकी देह में भावों को उदीप्त करके नृत्य करने के लिए प्रेरित करती है। वो बाईस साल की लड़की उसके होठों पर गुनगुनाहट के बोल खोलती जाती है। बाईस साल की लड़की वे उसके ह्रदय मन और आत्मा पर अपना अधिपत्य जमा लिया है। वह कहती है, 'अभी तुम बूढ़ी नहीं हुई हो। अभी तुम्हें जीना है, अपना जीवन, अपने हिसाब से।'
''लगा जितना जीवन बचा है उसे खूबसूरती के साथ जिया जाये क्योंकि इन दिनों अपने आसपास के लोगों के बारे में सुनकर बड़ा धक्का

लगता है। मौत मौका ही नहीं दे रही है।''
''सच कह रही हो।''
लीला गहरी निगाहों से उसका चेहरा पढ़े जा रही थी। वह मोबाइल पर बार-बार आने वाले मैसेज को पढ़ रही थी। पढ़कर वह जवाब में कुछ न कुछ लिख भी रही थी। यह मैसेज नहीं एक वीडियो था हिमालय की तराईयों का, बादलों का, नीचे सघन हरियाली का, ऐसा लग रहा था जैसे किसी अन्य लोक में पहुँच गये हो। यह वीडियो उन्होंने ही पोस्ट किया था। वे जानते हैं उसे हरियाली, समन्दर, जंगल आदि कितने ज्यादा पसंद है। उसने लाईक पर उंगली रखी कमेंटस बाक्स में जाकर लिखा, अद्भुत। प्रकृति का अनुपम नज़ारा।'
''क्या जान सकती हूँ कि आजकल तुम किन वादियों में रमी हो या...।''
''तुम जानती हो। लीला, तुमसे क्या छुपाना, इतने वर्षो बाद उनको फेसबुक पर देखकर मैं अच्चंभित हो गयी थी। पिछले तीन महीनों से वे मेरे फेसबुक फ्रेन्ड हैं। पता नहीं उन्होंने मुझे कैसे ढूँढ़ लिया।''
''ये वही है तुम्हें कैसे पता। कितनी फेक आईडी बनाकर लोग फ्रेंडशिप कर लेते हैं।''
''नहीं, मैंने उनकी फेसबुक प्रोफाइल देखी थी। वही जन्म स्थान, वही पढ़ाई के कॉलेज यूनिवर्सिटी। कहाँ-कहाँ नौकरी करके रिटायर हुए है। पत्नी की फोटो और नाम। बच्चों के नाम और फोटो। परिवार यानी माता-पिता के साथ फोटो देखकर मैं आश्वस्त हो गयी थी। वे मेरी फोटो तथा अन्य पिक्चर पर वैसे ही कमेंट्स लिखते हैं जैसे फेसबुक फ्रेन्डस लिखते हैं उन्होंने व्यक्तिगत बातें और सम्बंध कभी भी उजागर नहीं किए हैं पर वे मेरी एक-एक एक्टिविटीज पर निगाह रखते हैं।''
''क्या तूने कभी संपर्क करने की कोशिश की है?''
''नहीं। पुराने दिनों की यादों में लौटकर मैं अपनी आत्मा को और कष्ट नहीं पहुँचाना चाहती हूँ लीला। उनकी बेहद खूबसूरत पत्नी और उन्हीं की तरह स्मार्ट और सुन्दर बच्चों का परिवार है। उनका चेहरा बदल गया है। उनके बाल थोड़े से कम हो गये हैं। उफ कितने वर्षो बाद देखा। बीच का समय तो जैसे ब्लैक होल था।
न मुझे कुछ पता था न उन्हें। पर देखो मिलना था दुबारा...।'' कहकर
अनामिका अपने आँसू पोंछने लगी।
''उनके लिखे कमेंटस को दस बार पढ़ती हूँ। उनके घर की, गार्डन की तस्वीरे देखते हुए घंटो बीत जाते हैं। मैं किस मोहपाश में बंधी जा रही हूँ लीला। वो मेरा अतीत था ये वर्तमान है। वे क्यों लिखते हैं! क्यों। क्या वे भी मेरी तरह सोचते है! याद करते हैं? या उन्हें भी उत्सुकता है मेरे बीते हुए जीवन के बारे में जानने की। फेसबुक पर तो हर रोज की हर घड़ी की गतिविधियाँ शेयर होती रहती हैं...
फिर... लीला, जिंदगी लौट लौटकर वहीं क्यों जाती है, जिसको छोड़ते हुए सबसे ज्यादा कष्ट हुआ था। मानसिक और आत्मिक आघात पहुँचे थे। जहाँ हम नहीं जाना चाहते थे वहीं आकर क्यों वो रास्ता आमंत्रित कर रहा है। जबसे उनको देखा है, उनके बारे में पढ़ा है, हर पल उनके बारे में जानने की उत्सुकता बढ़ती जा रही है। बस हर पल इंतजार रहता है कि नया क्या देखने को मिलेगा!''
''तुम पागल हो पागल। पहले भी तुम इस आदमी के पीछे पागल थी और आज भी पागल हुए जा रही हो।''
''हाँ क्योंकि हमारा प्रेम बीच में अपने-अपने

सफर पर निकल गया था।
सफर में शादी थी, पति था, बच्चे थे, नहीं मालूम कि वे छुपकर हमारे साथ यात्रा कर रहे थे।''
''आज भी, आज भी तुम वैसी ही बातें कर रही हो अनामिका।''
वो जैसे आज की छाया से निकलकर कल (बीते हुए) के असल छायालोक में स्वयं को जाने से रोक न सकी।
वे कॉलेज के अंतिम वर्ष के अंतिम दिन थे। वह कॉलेज की प्रेसीडेंट थी। भाषण देने में दक्ष। मुखर। ऑडियंस को बांधने अभिभूत करने की कला में माहिर। तमाम कार्यक्रमों में वही कर्ता-धर्ता होती। तब कॉलेज के चुनाव राजनीति में प्रवेश करने की पाठशाल हुआ करते थे। कॉलेज के छात्र नेताओं को राजनीतिक पार्टियाँ भी लेने को अत्सुक रहा करती थी। नये-नये राजनीतिक प्रशिक्षु। उसी दौरान पहचान हुई थी ललित से। वह दूसरे कॉलेज का छात्रसंघ अध्यक्ष था। ललित भावी नेता के रूप में अपनी छवि गढ़ने और उपस्थिति दर्ज करवाने में माहिर था। ऐसा लोकप्रिय छात्र नेता अनामिका ने पहली बार देखा था। ललित को लगता था अनामिका उससे प्रभावित है पर अनामिका प्रभावित थी उसके दोस्त देवेश से। देवेश अपनी पढ़ाई-लिखाई को लेकर गंभीर था। दो विपरीत धाराओं पर चलने वाले वे दो लड़के अनामिका के भी बहुत अच्छे दोस्त थे।

उम्र के इस पड़ाव पर अनामिका को जबसे सोशल मीडिया पर, उसके कॉलेज के दिनों का प्यार देवेश मिला है, तब से अनामिका के भीतर एक बाईस साल की लड़की आकार बैठ गयी है। जो उसके कपड़े और रंग चुनती है, घूमने के लिए भेजती है, उसे गाने-गुनगुनाने और सेल्फ़ी के लिये प्रेरित करती है।"

देवेश पढ़ने के लिए दिल्ली चला गया था और ललित ने बाकयदा पार्टी ज्वाइन करके अपने राजनीतिक जीवन की शुरुआत कर दी थी। ललित सफलता की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए वह विधायक का चुनाव जीत गया था।
देवेश सरकारी नौकरी में आ गया था। देवेश और उसके बीच चिट्ठियाँ ही मजबूत डोर का सहारा थी बल्कि दोनों के संबंधों को इन चिट्ठियों ने अपने भीतर छुपाकर रख लिया था। दर्जनों चिट्ठियाँ जो हर शनिवार को उसे मिला करती थी। सुंदर अक्षरों में लिखे वे खत वे लिफाफे आज भी अनामिका के पास रखे हैं।
वो खत क्या थे अपने समय के दस्तावेज थे। आख्यान थे। कविता थे। देवेश और अनामिका के जीवन को चिट्ठियों ने देश दुनिया से जोड़ दिया था...। जैसे कोई साधक अपनी साधना में लीन स्वयं में समाधिस्थ होता जाता है वैसे ही वे दोनों अपने-अपने जीवन में एक दूसरे को लेकर समाधिस्थ होते गये थे।
''कब शादी के लिए बात करोगे?''
''जब तुम कहोगी!''
''जब तुम कहोगी।'' का जवाब वह देवेश को ठीक से दे भी नहीं पाई थी और देवेश उसके जवाब का इंतजार ही करता रहा था।
''तुमने तो पार्टी ज्वाइन की थी।''
''महिला विंग की।''
''क्या मिला इतने सालों में? क्या एचीवमेंट

रहा?''
''बदनामी। परिवार की फजीहत और क्या।''
''पता नहीं ऐसा क्यों होता है कि किसी एक फील्ड को हम स्वीकार नहीं कर पाते है?'' सारी चलाकियाँ सारी मक्कारी, सारी धूर्तता उसी में देखते हैं जबकि इतना कुछ होता नहीं है। एकदम अधूत जैसा व्यवहार। मेरे और ललित के चरित्र को लेकर इतनी वाहियात बातें उड़ायी गयी थी कि मैं सफाई देने लायक भी न बची थी। देवेश जानते थे कि मैं उन्हीं से प्यार करती हूँ। मेरा राजनीतिक जीवन, पार्टी का काम, प्रदर्शन नारेबाजी और महिलाओं के लिए लड़ाई लड़ना उनको अधिकार दिलाना बस यही तो मेरा काम था। हाँ पार्टी जरूर मुझे आगे लाना चाहती थी पर मेरे पापा ने मेरा पूरा भविष्य चैपट कर दिया था।''
''कैसे?''
''जबरदस्ती मेरा विवाह कर दिया। सोच सकती हो मेरी जैसी लड़की जब माता-पिता के दवाब में आ सकती है तो आम लड़कियों की तो बात ही छोड़ो।
माता-पिता अपने होने का हक जताकर कैसे जीवन नष्ट कर देते हैं। देवेश के पिता भी कोई घरेलू लड़की या स्कूल टीचर लड़की चाहते थे जो उनका तथा परिवार का ध्यान रखे। उन्हें लगता होगा मैं राजनीति करते हुए घर पर ध्यान नहीं दे पाऊँगी।''
''तूने कुछ नहीं कहा?''
''वे मुझसे मिलने आये थे बिल्कुल फिल्मी तर्ज पर।''
''तूने कभी बताया नहीं।''
''उन्होंने मना किया था। मना किया था कि मैं इस बारे में देवेश को कुछ न बताऊँ। वे लगभग रोने लगे थे कि मेरा इकलौता बेटा है। आधा जीवन आर्मी में नौकरी करते हुए बीत गया है, अब वे अपने बेटे के साथ रहना चाहते हैं।''
''और तू मान गयी थी।''
''दोनों के पिता हमारे विरोध में थे। उस समय जाति-पाँति की बातें बहुत मायने रखती थी।''
''और तुम दोनों।''
''एक दूसरे के साथ थे।''
''शादी के पहले देवेश मुझसे मिलने आये थे।''
''क्यों आया था?''
''मेरे खत वापस करने।''
''तूने वापस दिए।''
''नहीं।''
''क्यों!''
''क्योंकि वही मेरे जीवन की ताकत थे।''
''अब भी है।''
''हाँ।''
''कहाँ?''
''पापा के घर में। वहाँ मेरी एक अलमारी आज भी रखी हुई है।''
''क्या?''
''आज ये बातें काल्पनिक या झूठी लग सकती है पर पहले यही सच था चिट्ठियों में लिखा एक-एक शब्द एक-एक वाक्य जैसे प्राण खींच लेता था लीला। पर यही मेरे जीवन का सच है।''
''बच्चों को या जीजाजी को पता था।''
''कौन लड़की अपने गृहस्थ जीवन में आग लगायेगी। स्त्री का ये जो हृदय है न समन्दर से भी गहरा, अथाह अतल और अनंत की तरह होता है, इसके भीतर छुपा राज कोई नहीं जान सकता। मैं भी एक आदर्श पत्नी की तरह पूरे जीवन पति के साथ खुशी-खुशी रहती रही। वह प्रेम का नाटक था या कुछ और मैं परिभाषित नहीं कर सकती। मगर शादी के बाद मैने कभी भी देवेश को खोजने या उनसे बात करने की

कोशिश नहीं की। मगर लीला, जब से देवेश को देखा है तब से मेरा मन बैचेन है। बहुत बैचेन।''
''बंद कर दो फेसबुक। मत देखा करो। चैटिंग बंद कर दो।''
''कैसे? कैसे लीला। जब से देवेश को देखा है तब से जिंदगी का सूनापन कुछ कम हो गया है। तेरे जीजाजी के जाने के बाद मैं एकाएक बहुत अकेली हो गयी थी। घर में बंद। सब जगह आना जाना बंद हो गया था। लीला उसे देखे जा रही थी।
अब लगने लगा है जिंदगी इतनी बुरी भी नहीं है। अलमारियों में बंद कपड़े निकालकर पहन रही हूँ। घूमने जा रही हूँ। अपने खाने-पीने का ख्याल रख रही हूँ। जीवन में रंग भर रहे हैं। फूल खिल रहे हैं। मैं हँसने मुस्कराने लगी हूँ। बच्चे भी मुझे खुश देखकर खुश हो जाते हैं।
''तो तुम चाहती क्या हो?''
''अपने मन को समझाना चाहती हूँ कि यह सब जो हो रहा है वह हकीकत नहीं है आभासी दुनिया का सच है। दूर-दूर का सच।''
''पर वो भी तो एक सच्चाई हैं। आभासी दुनिया एक सच्चाई है। तुम देख रही हो लिख रही हो।''
फिर उसने अपने गार्डन में बैठकर अपनी फोटो पोस्ट की और कमेंटस
बॉक्स में लिखा, 'मेरे जीवन में खुशबू और रंग बिखेरने वाले।'
उधर से जवाब आया, 'बहुत खूब! आपकी पसंद बहुत अच्छी है।'

"कौन लड़की अपने गृहस्थ जीवन में आग लगायेगी। स्त्री का ये जो हृदय है न समन्दर से भी गहरा, अथाह अतल और अनंत की तरह होता है, इसके भीतर छुपा राज कोई नहीं जान सकता। मैं भी एक आदर्श पत्नी की तरह पूरे जीवन पति के साथ खुशी-खुशी रहती रही। मगर लीला, जब से देवेश को देखा है तब से मेरा मन बैचेन है।"

उसने घूमते हुए, सघन पेड़ों के बीच खड़े होकर फोटो पोस्ट की, 'यह मेरे
सपनों की सैर है।'फिर देवेश ने लिखा, 'आपके सपनों की सैर अनंत हो ऐसी शुभकामनाएँ देता हूँ।'
फिर एकाएक फेसबुक पर देवेश का आना-दिखना एकदम बंद हो गया। वह बार-बार पोस्ट देखती। सर्च करती। पुरानी पोस्ट पर उसकी निगाहें टिकी रहती। उसे लगता जितनी फोटो, उतने जन्मों से देखती आ रही है।
कहाँ हो तुम? क्या हो गया है? क्या करूँ? क्या मैसेंजर में मैसेज लिख दूँ।
क्या ठीक रहेगा! उनकी पत्नी ने पढ़ लिया तो। वो पूछ सकती है कि मैं कौन हूँ? क्यों लिख रही हूँ? नहीं... नहीं ये ठीक नहीं होगा। ये मेरी बैचेनी की सीमा नहीं हो सकती। धैर्य, धैर्य रखो। अनामिका धैर्य। जैसे तब रखा था जब देवेश के पिता आये थे, तब रखा था जब देवेश की शादी हो गयी थी, जब तुम्हारी शादी उस नेता से यह कहकर कर वा दी गयी थी कि तुम्हारी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं को पूरा होने का अवसर मिलेगा।'
तब भी उसने लिखा जीवन में अजीब सी उदासी है। वैराग्य भाव घर करता जा रहा है। हम अपनों की तलाश में अपने होने का एहसास करते रहते हैं जैसे ही तलाश पूरी होती है अजीब सा शून्य पैदा हो जाता है। 'ये क्या बकवास है वह स्वयं पर झुँझलायी। कौन तुम्हारी इन उदास बातों

को पढ़ेगा? समझेगा। उँगलियाँ अब आदी हो गयी हैं लाईक दबाने की या कमेन्टस बॉक्स में बने बनाये मैसेज को पोस्ट करने की। बस लिखे वाक्यों पर उँगली रख दो। निजी भावनाओं का उन कमेंट्स से कोई सरोकार नहीं होता वह सिर्फ एक औपचारिकता भर होती होगी।

दो माह ग्यारह दिन बाद देवेश के फेसबुक पर फोटो के साथ लंबी सी पोस्ट थी। पिछले माह गाँव जाते समय एक्सीडेंट हो गया था। मित्रों की दुआओं के कारण जान बच गयी। बस दोनों पाँव में फ्रेक्चर हो गया था जिनका ऑपरेशन भी हो गया है। बस अब दो माह की बात है। प्लास्टर कटने के बाद अपने पाँव पर खड़ा हो सकूँगा।'क्या ? जैसे वह अचेत होते-होते बची! सैकड़ो लोगों के मैसेज लिखे थे दुआओं से भरे। बस वह पढ़े जा रही थी, उसके आँसू नहीं रुक रहे थे। वह एक सामान्य फेसबुक फ्रेन्ड की तरह ठीक होने की शुभकामना संदेश लिख सकती थी। न पूछ सकती थी न अपना हाल लिख सकती थी। आज भी इस उम्र में भी उसे वही सब करना पड़ रहा था जो बाईस साल की उम्र में किया था, तब पिता थे, रिश्तेदार थे आज उनकी पत्नी है। बच्चे हैं। क्या करूँ? रात यूँ ही कटी जागते हुए! एक पल के लिए पलके बंद नहीं हुई।

''लीला। मुझे जाना होगा।''

''कहाँ?''

''उन्हें दखने। वे हॉस्पिटल में हैं।''

''पागल हो क्या, क्या कहोगी? क्या परिचय दोगी? हो सकता है देवेश को
खुद अच्छा न लगे। इस उम्र में आकर तुम उनका खुशहाल जीवन बर्बाद कर देना चाहती हो?''

''नहीं, बस एक बार, एक बार जाकर मैं उन्हें देखना चाहती हूँ।''

''यह देखना नहीं है तुम्हारी और देवेश के जीवन की बर्बादी है।''

''प्लीज जाने दो।''

''नहीं।''

''तुम मेरे पिता जैसा व्यवहार कर रही हो।''

''करना पड़ रहा है।''

''तो मैं क्या करूँ?''

''फोन पर बात कर लो।''

''नहीं मुझसे नहीं होगी।''

''कोशिश करों।''

उसने काँपते हाथों से फोन लगाया उधर से मैसेज आया, 'जिस नंबर पर
आप बात करना चाहती है वो बंद है।'

। उसके दोनों नंगे बच्चे एल्युमीनियम की खाली पतीली के पास बैठे हुए टुकर-टुकर अपने बाप को देखते। उनकी माँ की सूनी आँखें समझ जातीं कि चूल्हे की तरह उन्हें आज भी बुझे रहना है। तब मुझे लगा कि ज़िन्दगी किसी मजदूर के हाथों-सी कठोर और भूखे बच्चों के पेट-सी खाली होती है। ज़िन्दगी माँ की आँखों-सी सूनी, कपड़ों-सी फ़टी और मैली, दिख रहे बदन-सी नंगी और बेबस होती है, जिसे ठेले की तरह खींचा जाता है।

क्या होती है ज़िन्दगी ? मैं सोचता रहा। आखिर एक दिन उदय मिल गया। मैंने उसे मजदूर की बात बताई।

उसने कहा- ज़िन्दगी इसके अलावा भी बहुत कुछ होती है।

मैंने पूछा- क्या वह मजदूर यह बात जानता है ?

राकेश खण्डेलवाल

भरतपुर, राजस्थान (भारत) में जन्में राकेश खण्डेलवाल सुप्रसिद्ध गीतकार हैं, राकेश जी 1983 से सिल्वर स्प्रिंग मेरीलैंड, अमेरिका में स्थायी रूप से रह रहे हैं- अब तक उनकी 5 पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं और देश-विदेश की कई संस्थाओं द्वारा सम्मानित व पुरस्कृत हैं ।

ईमेल - urmilashirish@hotmail.com

गाँव का व्यवहार क्या हो?

-राकेश खण्डेलवाल

प्रश्न तो कर लूँ
मगर फिर प्रश्न उठता है
कि मेरे प्रश्न का आधार क्या हो
पार वाली झोंपड़ी से गाँव का व्यवहार क्या हो ?

भावना के दायरे में जो सिमट बैठीं अचानक
दूरियों के मापने का कौन सा प्रतिमान मानें
अजनबीपन की गहन, गहरी बिछी इन घाटियों में
पार जाने का सही है कौन सा पथ आज जानें
व्योम से लेकर धरा तक, सेतु सपनों के बनाकर
चल रहे जो खींचकर हम आस के खाके सुनहरी
उन पथों पर भोर कर लें या कि संध्या कोई बोले
क्या भरें आलाप, छेड़ें बाँसुरी की मृदुल तानें
छिन्नमस्ता आस्था ने सौंप रक्खे ज़िन्दगी को
दर्द के बोझिल पलों का आखिरी उपचार क्या हो ?

टूटते अनुबंध की कड़ियाँ पिरोते रात बीती
शेष जो सौगंध के मानी रहे वो हाशियों पर
बीज बो, नित जो उगाईं चाहतों के रश्मिरथ पर
किस गगन के जलद चलकर आ सकेंगे रास्तों पर
चल रहे जिन उँगलियों को थाम कर हम इस सफ़र में
है सुनिश्चित क्या, कि मंज़िल तक हमारा साथ देंगी
छटपटातीं ताकतीं सुधियाँ दिशाओं के झरोखे
नाम किसका लिख सकेगा बिन पते की पातियों पर
ज़िन्दगी के मंच पर बिखरीं हजारों पटकथाएँ
कशमकश है इन सभी का एक उपसंहार क्या हो ?

हो गई विस्मृत शपथ जो अग्नि के सन्मुख उठी थी
हमकदम सब राह के थक दूर पीछे रह गये हैं
क्षुद्र टुकड़ों में बँटी है संस्कृतियों की धरोहर
श्वास के अवलंब सारे आँधियों में बह गये हैं
मानकर जिन पत्थरों को देवता पूजा किये हम
प्राण उनमें क्या कभी कोई पुजारी पा सकेगा
कल्पना के इन्द्रधनुषों को तलाशें सात अंबर
रंग थे जिनमें बसे, वे महल सारे ढह गये हैं
रूठकर बैठे पलों को ज़िन्दगी के जो मना ले
प्रश्न लेकर घूमता हूँ एक वो मनुहार क्या हो ?
पार वाली झोंपड़ी से गाँव का व्यवहार क्या हो.

इस गीत को सुनने के लिए यहाँ क्लिक करें »

धर्मपाल महेंद्र जैन

जन्म रानापुर, झाबुआ में। आठ सौ से अधिक रचनाएँ प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। चार व्यंग्य संकलन एवं दो कविता संकलनों के साथ पच्चीस से अधिक साझा संकलनों में सहभागिता।

ईमेल - dharmtoronto@gmail.com

"मैं उठते ही टीवी को उठा देता हूँ। हालांकि उसके पहले मैं अपना दिमाग़ ऑन कर चुका होता हूँ, पर मेरा दिमाग़ उन्नीसवीं सदी का मॉडल है, धीरे-धीरे लोड होता है। लोड होते-होते झपकी मार लेता है और इसलिए सारे दिन पत्नी से उलाहने सुनता है। यह तो अच्छा है कि हमारा टीवी बड़ा संस्कारी है, ऑन-डिमांड मनोरंजन करता है। सवेरे संस्कृति रक्षक भजन सुनाता है, फिर संस्कृत में सुप्रभात कार्यक्रम देता है। संस्कृत भगवान और विद्वान आसानी से समझ लेते हैं। उन्हें निबटाने के बाद टीवी देसी हो जाता है, तब तक मैं भी निबट आता हूँ। यह मेरा नित्य कर्म है। आज संस्कृत उद्घोषिका ने धन्य कर दिया। उसने कहा- यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः, जहाँ नारी का सम्मान होता है, वहाँ देवता रहते हैं। क्या मालूम क्यों, मुझे लगता रहा कि मेरे घर में भूत रहते हैं। मैं जहाँ चीजें रखता हूँ वहाँ से गायब हो जाती हैं, कहीं और मिलती हैं। जेब में रखी चिल्लर यूँ ही रहती है, पर सारे नोट गायब हो जाते हैं।

इतने दिनों मुझे लगता रहा कि भूत को मेरा सेलफोन पसंद है या फिर सेलफोन को ही स्वतः चलने की बीमारी है। मैं उसे चार्जर पर लगा कर काम में लग जाता हूँ तो वह बिना चार्ज हुए कहीं और चला जाता है, कभी किचन में मिलता है तो कभी वाशिंग मशीन पर। कितना भुलक्कड़ हो गया हूँ मैं, जिन क्षेत्रों में मुझे नहीं जाना चाहिए वहाँ अपना सुराग छोड़ आता हूँ। मन नहीं मानता कि मैं भुलक्कड़ हो गया हूँ, सेलफोन की अफरातफरी में ज़रूर घरेलू भूत-प्रेतों का हाथ है।

बचपन में दादी ने समझाया था गंदे लोगों के पीछे भूत-प्रेत पड़ जाते हैं। इस डर के मारे मैं रोज सवेरे नहा लेता था। अमेरिकनों को घर में ही भूत लग जाने का भय सताता है, इसलिए जब से मैं अमेरिका आया, रात को सोने से पहले नहाने लगा। धीरे-धीरे अनुभव हुआ कि विदेशों में इतने भूत-पिशाच नहीं रहते। मोक्ष भारत में मिलता है, इसलिए मोक्षप्रार्थी वहीं भटकते हैं। इस मामले में हिंदु-मुस्लिम विचारधारा समान है। भूत, जिन्न बन जाते हैं, अच्छा है जिन्ना नहीं बनते, नहीं तो आदमी के दो टुकड़े कर देते। भूत और जिन्न दोनों अपनी प्रजा को डरा कर रखते हैं। डर के मारे लोग पुण्य करने लग जाते हैं, डर के मारे लोग धर्म और मज़हब की शरण तलाशते हैं। डरा कर नहीं रखो तो आदमी पुलिस और भगवान के आगे भी सिर नहीं झुकाता।

इच्छा तो बहुत रही कि ज़िंदा भूत-प्रेतों को देख आऊँ पर संसद की दर्शक दीर्घा का पास नहीं बटोर सका। द्वारपाल ने मुझे समझाया, अगले चुनाव परिणाम के बाद वे सभी इसी मार्ग से आएँगे; पाँच साल में एक बार शपथ लेने तो वे

ज़रूर आते हैं नहीं तो उन्हें वेतन, भत्ता और पेंशन न मिले। तुम शपथ के दिन आ जाना। मैं अब चुनाव का इंतज़ार कर रहा था कि बस एक बार परिष्कृत भूत-प्रेत देख आऊँ।

भारतीय अनपढ़ हों या सुशिक्षित, वह भूत-प्रेत भगाने के नींबू-मिर्ची के टोने-टोटके जानता है, पर घर के भूत ढीठ होते हैं, सस्ते में नहीं भागते। मैंने भूत-प्रेत विशेषज्ञ चिकित्सक से मदद ली। वे मान्य पद्धति से करंट लगाते हैं और भूत-प्रेत हों या न हों उनसे मुक्ति दिला देते हैं। कभी सरकारी या ग़ैर-सरकारी भूत पीछे पड़ जाएँ तो वे गुप्त दान करने की सलाह देते हैं। मेरी समस्या सुनकर उन्होंने कहा कि आदमी कवि बन जाए तो भूत-प्रेत उसे दूर से ही साष्टांग कर लेते हैं, छोटे भूत-प्रेतों में वरिष्ठों को सम्मान देने की परंपरा कायम है।

कवि ही कवि का ध्यान रखते हैं, फिर तुलसी तो ठहरे महाकवि। उनका कवित्त 'हनुमान चालीसा' जब टीवी पर आता है, मैं वॉल्यूम बढ़ा देता हूँ ताकि घर के किसी कोने में दुबकी या खुले आम घूमती बुरी आत्माएँ महाकवि के ऐलान का नोटिस ले सकें। स्वाभाविक जिज्ञासा हुई, तुलसीदासजी ने भूत-पिशाच कहाँ देखे होंगे। मुझे लगता है वे किसी कवि सम्मलेन में अध्यक्षता करने चले गए होंगे और वीर रस के कवि को कविता पाठ करते सुना होगा। ये कवि दहाड़े मारते हुए ऐसा अद्भुत कविता पाठ करते हैं कि ऊँघ रहे सारे श्रोतागण तालियाँ ठोकने लग जाते हैं। तुलसीदासजी ने अन्यत्र भूत-पलीत देखे हों ऐसा कोई साक्ष्य नहीं मिलता। मंदिरों में बहुतेरे जीवित रावण ही मिलते हैं, राम कहीं नहीं दिखते। आज सवेरे नार्यस्तु वाला संस्कृत श्लोक सुनकर मुझे मतिभ्रम हो रहा था कि जब घर में देवता बसते हैं तो मुझे दिखते क्यों नहीं।

"मेरी समस्या सुनकर उन्होंने कहा कि आदमी कवि बन जाए तो भूत-प्रेत उसे दूर से ही साष्टांग कर लेते हैं, छोटे भूत-प्रेतों में वरिष्ठों को सम्मान देने की परंपरा कायम है। कवि ही कवि का ध्यान रखते हैं, फिर तुलसी तो ठहरे महाकवि। उनका कवित्त 'हनुमान चालीसा' जब टीवी पर आता है, मैं वॉल्यूम बढ़ा देता हूँ ताकि घर के किसी कोने में दुबकी आत्माएँ महाकवि के ऐलान का नोटिस ले सकें।"

मैं पितृसत्तात्मक संस्कृति में जन्मा इसलिए मैं इसका सम्मान करता आया। जो अयोग्य हो उसकी वाहवाही कर आप अपना मतलब निकाल सकते हो। ऐसा करके मैं ख़ुद को बुद्धिमान मनवाता आया। मानने और मनवाने से पत्थर भी प्रभु हो जाते हैं, पर स्त्री विमर्श के इस कठिन दौर में अपने घर में मुझे भाव नहीं मिला। जो हकीकत जानते हैं वे भाव नहीं देते, धिक्कार देते हैं जैसे तुलसीदासजी को उनकी प्रिया रत्नावली ने धिक्कारा था। मेरे घर में मेरे पड़ोसियों, मित्रों और रिश्तेदारों, सबको अभयदान मिल चुका था, बस मेरे ही ज्ञान चक्षु नहीं खुल रहे थे। आज संस्कृत-उद्घोषिका मुझे परम ज्ञान दे गई। मैंने श्लोक में आए दो शब्दों यत्र और तत्र को बदल कर अपने घर का भाव भर दिया और अपनी सुप्रिया से कहा- अत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते अत्र देवताः। वह उमग रही है, मैं भी उमंगित हूँ, उसे पूजनीय बनाकर मैं भी देवता बन गया हूँ। ■

रेणु चन्द्रा माथुर

अजमेर, राजस्थान (भारत) में जन्मी और जयपुर निवासी रेणु चन्द्रा माथुर लघुकथा सहित विभिन्न विधाओं में लेखन करती हैं आपकी अब तक विभिन्न विधाओं की पाँच पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं । वर्तमान में आप केलिफोर्निया, अमेरिका के फ्रीमांट शहर में स्थायी रूप से रह रही हैं।

ईमेल - renusatish2003@yahoo.com

बाबूजी का श्राद्ध

-रेणु चन्द्रा माथुर

श्राद्ध पक्ष चल रहे थे। घर में बाबूजी का ग्यारस का श्राद्ध निकालना था। दो चार दिन पहिले ही पंडित जी को न्योता दे दिया था। उस दिन सुबह जब याद दिलाने के लिये उन्हें फोन किया तो, वे कहने लगे,

"क्या करूँ मुझे तो बिल्कुल समय नहीं है, दूसरी जगह से भी न्योता है, पहिले वहाँ जाऊँगा। फिर वहीं से आफिस चला जाऊँगा। आपके यहाँ तो शाम को ही आ पाऊँगा।"

क्या करते ? आजकल पंडित जी मिलते कहाँ हैं ? सो मानना पड़ा।

फिर थोड़ी देर में उन्हीं का फोन आया बोले- "एक बात और कहनी थी आपसे, एक जजमान के यहाँ खाना खाकर आऊँगा, सो अधिक खा नहीं पाऊँगा। अत: टिफ़िन दे दीजिएगा... और हाँ... दक्षिणा की ठीक ठाक व्यवस्था रखिएगा।"

हम सभी का सिर चकरा गया। सभी सोच में पड़ गये कि क्या करें ? श्राद्ध का खाना तो हम सुबह ही खिलाना चाह रहे थे। क्योंकि, माँ का कहना था- "जब तक श्राद्ध निकाल कर पंडित जी को भोजन न करा दें, घर का कोई सदस्य भोजन नहीं करता है, ऐसी परम्परा है।"

थोड़ी देर में देखा कि घर के द्वार पर एक दीन-हीन बूढ़ा आदमी निढ़ाल अवस्था में बैठा था और बुदबुदा रहा था- "बहुत भूखा हूँ माई! कई दिनों से ठीक से खाना नसीब नहीं हुआ- कुछ खाने को दे दो।"

मैंने पलभर सोचा... और उस बूढ़े आदमी को आदर सहित अहाते में बुला लिया... बैठाकर आग्रह पूर्वक खाना खिलाया।... बूढ़े आदमी ने भरपेट खाना खाकर तृप्ति का अनुभव किया... इसका अहसास उसके रोम-रोम से हो रहा था। ...वह ढेर सारे आशीष देकर धीरे-धीरे चला गया... उस दिन मन को जो संतुष्टि मिली उससे लगा कि बाबू जी का सही माने में श्राद्ध तो आज हुआ है।

■

नरेश शांडिल्य

दिल्ली में जन्में नरेश शांडिल्य सुप्रसिद्ध साहित्यकार हैं, दोहों पर विशेष कार्य है, उनके 7 कविता संग्रह और 6 संपादित पुस्तकें अब तक प्रकाशित हो चुकी हैं– देश–विदेश की कई संस्थाओं से पुरस्कृत तथा सम्मानित ।

ईमेल - nareshshandilya007@gmail.com

दोहे

-नरेश शांडिल्य

मैं खुश हूँ औज़ार बन, तू ही बन हथियार।
वक़्त करेगा फ़ैसला, कौन हुआ बेकार।।

तू पत्थर की ऐंठ है, मैं पानी की लोच।
तेरी अपनी सोच है, मेरी अपनी सोच।।

बस तू ही इक ‘सेर’ है, ऐसा वहम न पाल।
‘सवा सेर’ भी हैं यहाँ, ख़ुद को ज़रा सँभाल।।

सब कुछ पलड़ों पर चढ़ा, क्या नाता क्या प्यार।
घर का आँगन भी लगे, अब तो इक बाज़ार।।

ज़रा-ज़रा सी बात पर, रिश्तों को मत तोड़।
सात अरब की भीड़ में, सात लोग तो जोड़।।

मैला ढोने की प्रथा, कहाँ हुई है बंद।
नदियों के सिर कर दिया, हमने अपना गंद।।

मर जाएँगे पेड़ जब, लगा गले में फाँस।
लिए कटोरा घूमना, माँगा करना साँस।।

कटे हुए हर पेड़ से, चीख़ा एक कबीर।
मूरख कल को आज की, आरी से मत चीर।।

जल-जंगल की फ़िक्र कर, रह-रह कहे ज़मीन।
अपने ही अस्तित्व की, मत कर यूँ तौहीन।।

जब से फेंके तोड़ कर, गंडे औ’ ताबीज़।
धूप-हवा आने लगी, मेरी भी दहलीज़।।

इस पूरे ब्रह्माण्ड में, क्या मेरी औक़ात।
बनी कहाँ फिर भी कहो, मुझ बिन इसकी बात।।

युद्ध एक शतरंज है, यहाँ घात प्रतिघात।
प्यादा भी जब-तब यहाँ, दे सकता है मात।।

वो कूड़े के ढेर से, बीन रहा था ख़्वाब।
क़िस्मत लाख सवाल थी, वो था एक ज़वाब।।

बाराती लौटे सभी, भर-भर अपना पेट।
कुत्तों के सँग मुफ़लिसी, जूठन रही समेट।।

थू थू ऐसी प्रगति पर, थू शहरों की ज़ात।
चिड़ियों का कलरव हुआ, बीते दिन की बात।।

■

कुमार अनुपम

बलरामपुर, उत्तर प्रदेश में जन्म। 2 कविता संग्रह प्रकाशित। 4 संपादित और 3 अनुदित पुस्तकें प्रकाशित। एक मानद उपाधि सहित विभिन्न संस्थानों से पुरस्कार- सम्मान प्राप्त।

ईमेल - poetkumaranupam@gmail.com

सुनील दास : परम्परा में नवीनता का अन्वेषक

-कुमार अनुपम

"I for one, have always been impressed by Sunil's adventurous attitude towards his work which has always prompted him to try out new ideas, new techniques and new styles. His most remarkable works revolve around the theme of-- a) man-woman relationships, b) woman in her sexual empowerment, and c) in her loneliness. I have always been haunted by the mysterious looking woman who frequently appear on Sunil's canvases. Their eyes shine like two gems from the infinite darkness of their sockets. Their faces painted in white against a white background framed by dark flowing hair and their bodies endowed with all the attributes of the female figure leave an indelible impression upon (the viewer's) mind.

-Paritosh Sen

भारतीय समकालीन कला में सुनील दास को निश्चित रूप से एक महत्त्वपूर्ण चित्रकार का दर्जा हासिल है। जैसा कि उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि सुनील दास के कामों का तीन मूल स्वरूप उनका हस्ताक्षर माना जाता है। अब देखा यह जाना चाहिए कि जब भारतीय चित्रकला में इन तीनों स्वरूपों की अनेक चित्रकारों के कामों में एक परम्परा सी मौजूद है तो सुनील दास के इन रूपाकारों की मौलिकता की सामर्थ्य क्या है? इन चित्रों का नयापन और अनूठापन क्या है, जो सुनील दास को प्रतिष्ठित करता है! सुनील के 'अश्व'' 'वृष' और 'स्त्री-पुरुष' अपनी किन भिन्नताओं की वजह से पूर्ववर्ती या समकालीन चित्रकारों के इसी विषय पर किए गए कामों से अलग हैं? भारतीय कला आलोचना और समीक्षा में तुलनात्मक अध्ययन की कोई परम्परा है या नहीं, मुझे ज्ञात नहीं है। इस आलेख में, एक

कला विद्यार्थी की विनम्रता से कुछ चित्रकारों के कार्यों के बरअक्स सुनील दास की विलक्षणता का अध्ययन करने का एक छोटा-सा प्रयास भर कर रहा हूँ।

सर्वप्रथम 'वृष' आदिमानव ने गुफाओं के पत्थरों पर चित्रित किया था। उसके बाद से आज तक बहुत सारे चित्रकारों ने इसे अपना विषय बनाया है। पिछले वक्तों में बहुत दूर न जाएँ तो कुछ चित्रकारों ने 'वृष' और 'अश्व' को चित्रित करके ही अपनी पुख्ता पहचान बना ली। हुसेन, सतीश गुजराल, जय झरोटिया जैसे कई नाम लिए जा सकते हैं, जिन्होंने पशुओं को अपने विषय को प्रस्तुत करने का माध्यम बनाया। सुनील दास इसी परम्परा के जरूरी नाम हैं।

"दरअसल कुछ कला रूप इतने व्यवहार में लाए गए कि रूढ़ से हो गए हैं, जिन्हें अक्सर चित्रकार अपना विषय बनाने की एक पारम्परिक ललक में व्याकुल दिखते हैं।"

हुसेन के 'अश्व' इतने मकबूल हुए कि बहुत सारे चित्रकार कलाबाज़ार की पसन्दगी प्राप्त करने के लिए इस 'मोटिफ' के प्रति सदाशय हो बैठे। कला को इससे कितना फायदा हो सका, यह कहने की क्या बात, लेकिन इस तरह दुहराव ही साबित हुआ, क्योंकि इस ('अश्व' अथवा 'वृष') आकृति की उपस्थिति कोई नया आयाम नहीं पा सकी। मैं इसमें भी विश्वास नहीं करता कि इन रूपाकारों की अन्य चित्रात्मक सम्भावनाओं की ओर ध्यान नहीं दिया जाना चाहिए था, लेकिन ऐसा कहते हुए यदि कोई नई कथ्यात्मकता नहीं सृजित हो सकी तो ऐसा करना अनुकृति की ही तरह होकर रह जाता है। एक 'फार्मूला' भर बनकर रह जाता है।

अमृता शेरगिल ने बहुत पहले ही इस बात पर अपनी चिंता जताते हुए आगाह किया था कि "हमारी परम्पराएँ जो किसी वक्त बहुत महत्त्वपूर्ण और आश्चर्यजनक थीं, अब वे सिर्फ एक खाली फार्मूला रह गई हैं। पर परम्पराओं से चिपके रहना मुनासिब नहीं है कुछ कलाकारों को छोड़कर जिनके व्यक्तित्व में यह क्षमता है कि वे पुराने पारम्परिक रूपों से भी कुछ नया पैदा कर सकते हैं। असल में इस तरह परम्परा से चिपके रहना 1200 साल पुराने भारत की पुनर्रचना के उद्देश्य की ओर बढ़ना है (जो कि निश्चय ही अपने आप को धोखा देना है) और ऐसा दूसरे, तीसरे, चौथे नहीं बल्कि पाँचवें दर्जे की पश्चिमी कला की अनुकृति के विरोध में किया जा रहा है।'' ('अमृता शेरगिल' (1987), लेखक : कन्हैयालाल नंदन, पृ. 129-130)

हुसेन के 'अश्व' पौराणिक और आधुनिक कालों में एक साथ गति करते दिखते हैं। विभिन्न कथाभूमियों पर गतिशील हुसेन के 'अश्व' हर बार अपने अश्वपन को पुन: परिभाषिक करते हैं और एक पात्र में तब्दील हो जाते हैं। 'करबला' और 'महाभारत' सीरीज के 'अश्व' तो जैसे केंद्रीय पात्र ही बन जाते हैं, और सारा दृश्य जैसे उन्हों की कथा कहता हुआ संयोजन मात्र लगने लगता है। हुसेन की यही सतर्कता उनके 'अश्व' को नया बनाती है। यही हुसेन की ऊर्जा है, शक्ति है, जो आधुनिक सन्दर्भ में एक उन्मुक्तता का 'पाठ' तैयार करती है।

सतीश गुजराल के 'अश्व' वल्गाओं के खिचाव से एक संतुलित गति को तरजीह देते हैं। यह आज की भागमभाग भरी जीवनशैली को सम्हालने का संकेत भी तो है। सतीश गुजराल ने अपने चित्रों में जितना 'अश्व' के रूपाकारों, कथाभूमियों और उनकी व्यंजनाओं में विविधता निर्मित करने की कोशिश की है उतनी अन्य चित्रकारों के यहाँ नहीं मिलती। मोटी रेखाओं के वलय और रूपों का अतिव्यापन सघन रंगों में बहुस्तरीय कथाओं का स्पेस निर्मित करता है। इस अर्थ में हुसेन के' अश्व की सामर्थ्य थोड़ी-सी कम ठहरती है। सतीश गुजराल ने मूर्तिशिल्पों में भी 'अश्व' और 'वल्गाओं' की नित नवीन कथाएँ रची हैं।

सुनील दास के 'अश्व' और 'वृष' अल्प रेखाओं और सधी उन्मुक्तता के रूपाकार हैं। सुनील दास दरअस्ल रेखाओं और रंगों के मितव्ययी कलाकार हैं। पिघलते रंगों का विलय इन रूपाकारों को और व्यंजक बना देता है।

विभिन्न मुद्राओं और 'मूड' को प्रकट करते सुनील दास के ये रूपाकार अपनी गति में अप्रत्याशित

सम्भावनाओं की सृष्टि करते हैं । इनके 'अश्वों और 'वृषों' की व्याकुल बौखलाहट हमारे उत्तर-आधुनिक समय की प्रवृत्ति का 'क्रिटीक' तैयार करती है। साम्प्रदायिकता के चरम उठान भरे दौर में इन वृषों का 'उन्मादी आमादापन' आसानी से उन शक्तियों की शिनाख्त कराने की क्षमता रखता है जिन्होंने धर्म और सम्प्रदाय के अमानुषिक उपयोग से पूरी दुनिया को आक्रांत कर रखा है।

गौर करें तो सन् 2000 में सुनील दास ने 'बुल' और 'हार्स' (अश्व) बनाया था। इन दोनों ही चित्रों का वर्ष समान है। इन दोनों चित्रों में 'बुल (2000)' पूर्ण उन्मादी और सर्वनाशक व्यग्रता से उन्मत्त है, जबकि 'हार्स (2000)' चित्र का 'अश्व' अवसाद और अकर्मण्य अथवा निरुपाय-की-सी स्थिति में चित्रित है। इस चित्र का 'अश्व' हमारे समय की सृजनशील शक्ति की असहायता को प्रकट करता सा दीखता है। साम्प्रदायिक दंगों के दौरान ऐसी ही कठिन स्थिति रचनात्मक व्यक्ति महसूस करने लगे थे। यह स्थिति यूँ ही नहीं आई थी। इन दंगों के पीछे सत्ताधारी शक्तियों और शासन के कारिन्दों को भूमिका को भी साफ पहचान लिया गया था। सुनील दास के ये दो चित्र ही उस दौर के दो ध्रुवों की दशाओं को सामने लाने की सफल कोशिशें करते दीखते हैं।

सुनील दास के ये रूपाकार ('अश्व' और 'वृष) एक सपाट और विस्तृत फलक पर चित्रित होते रहे हैं। रूपाकारों के इर्द-गिर्द ड्रा लाइन्स की उपयोगिता इसमें भी साबित है कि वह इन्हें और गति प्रदान कर देती है। बहुत सारे फलक को सपाट छोड़ देना और इन रूपाकारों को थोड़े से बहते हुए रंगों के माध्यम से सुनील दास ने सृजित कर अपनी चित्रभाषा का एक अपना-सा रूप पा लिया है। किसी भी रचनाकार की

प्राथमिक सफलता इसी में निहित होती है कि वह एक अपनी कथन की भाषा प्राप्त कर ले। इस स्तर पर सुनील दास सफल साबित होते हैं। सुनील दास के चित्रों को देखते हुए यह सहज रूप से जाना जा सकता है कि उन्होंने 'अश्व' और 'वृष' का सूक्ष्म और विभिन्न मौद्रिक दशाओं का संवेदनशील अध्ययन किया है। इन्हें देखते हुए यह तो लगता ही है कि ये रूपाकार अपनी स्थितियाँ परिवर्तित कर रहे हैं, विभिन्न मुद्राएँ अख्तियार कर रहे हैं, लेकिन क्या किसी कथन को भी निर्मित कर रहे हैं, ऐसा अक्सर नहीं होता। न किसी पूर्वकथा से आए हुए ये पात्र हैं, न किसानों और घोड़ा-गाड़ीवानों के प्राचीन सहयोगी और सहजीवी पशु। सुनील दास के इन रूपाकारों को स्वच्छन्द सृष्टि के एक पशु को लीलाओं से ही जाना जा सकता है, इसके अतिरिक्त की कथाएँ सायास ही गढ़ी जाएँ तो यह दर्शक की मर्जी।

मुझे लगता है कि सुनील दास इन पशुओं की चित्रात्मक सम्भावनाओं को ही विभिन्न शैलियों और रंगों-रेखाओं से रचने की कोशिश भर करते हैं, उनका कोई सामाजिक 'पाठ' अक्सर नहीं निर्मित करते हैं। इनके बरअक्स हुसेन सतीश गुजराल, जय झरोटिया के पशु-रूपाकार अधिक मुखर और सतर्क कथाएँ रचने की सामर्थ्य रखते हैं। रंगों- रेखाओं का कुशल प्रयोग सुनील दास को एक चित्रकार के रूप में प्रतिष्ठा दिला चुका है। यदि वरिष्ठ कला-समीक्षक अशोक वाजपेयी के शब्दों में कहें तो "सटीक संयोजन ही आज सौंदर्य बन गया है।'' इसी लगभग मान लिए गए तथ्य की परम्परा में सुनील दास को मैं एक 'सौंदर्यवादी' चित्रकार की तरह ही पाता हूँ। यह बात मैं 'बुल' और 'हार्स' श्रृंखला के चित्रकार के बारे में ही बस कह रहा हूँ। स्त्री-पुरुष संबंधों को आधार बनाकर चित्रित किए गए कैनवस अधिक सार्थक हैं। इन चित्रों में संवाद असंवाद की अनेक सम्भावनाएँ हैं । जैसे उनके 'स्त्री' और 'पुरुष' अपनी बातों और ध्वनि की सामर्थ्य कोलाहल और शोर से भरे समय में पहचान कर किसी आत्मदया से ग्रस्त हो, मौन हो गए हैं। इन चित्रों में उस मौन का संवाद निरंतर कायम है। एक अवसाद पूरे कैनवस पर पसरा है और आड़ी-तिरछी रेखाएँ और पिघलते रंग उन्हें और भी मार्मिक काररुणिकता में तब्दील कर देते हैं।

सियालहद स्टेशन पर की गई ड्रॉइंग्स में शरणार्थी लोगों की पीड़ा, असहायता और आशंका से भरी उबड़-खाबड़ जिंदगी को आसानी से पहचाना जा सकता है, महसूस किया जा सकता है। इन स्त्री-पुरुषों की आँखों को गंभीर कालेपन ने अपनी गिरफ्त में ले रखा है। 'शून्य' इनका भाष्य बन गया है। जैसे कोई इच्छा की सम्भावना, किसी स्वप्न की कोई गुंजाइश ही इनमें न बची हो, लेकिन उन मनुष्यों का जीवंत होना उनकी जिजीविषा का सूक्ष्म सार्थक फलक तैयार कर रहा है। यह सुनील दास की कलाकारिता और संवेदना का सघन और समर्थ साक्ष्य है। 'वेश्या' को चित्रित करते हुए सुनील दास बहुत मार्मिक मौन और गालियों तक को भी ध्वनित कर सके हैं। अस्मिता की खोज इन विषयों का केंद्रीय विचार है, जिसे सुनील दास ने बहुविधि चित्रित किया है।

वे सुनीत चोपड़ा से बातचीत में एक जगह कहते हैं – *''I give you new eyes, the eyes with which you can see the new aspect*

of time" (लेकिन) वे आगे दुरुस्त करते हुए और जोड़ते हैं, *"I give you new eyes, the eyes with which you can see yourself."* सुनील दास के उपर्युक्त स्त्री-पुरुष विषयक चित्र अपने और हमारे समय के सचमुच बहुसंख्यक पात्र बन जाते हैं, जिनके पास कुछ नहीं, सब कुछ खो चुका है, छीना जा चुका है और वे नए सिरे से अपनी जिंदगी और अस्तित्व का मायने तलाश करने की जद्दोजहद और पसोपेश में मुब्तिला हैं।

भूमंडलीकरण की छद्म व्याप्ति ने हमारी अस्मिता, हमारे पहचान के सामने संकट ही नहीं खड़े किए बल्कि उन्हें 'एकरूप पहचान' में बदलकर लगभग सब कुछ का सामान्यीकरण ही कर डाला है। इससे मौलिक पहचान की अद्वितीयता नष्ट करने का षड्यन्त्र रचा जा रहा है। इससे आत्मनिर्वासन की, आत्मविस्थापन और आत्मपराजय की स्थिति हमारे सामने आ खड़ी हुई है। किसी भूगोल से विस्थापन की तुलना में मानसिक विस्थापन या आत्मविस्थापन की स्थिति अधिक खतरनाक होती है। सुनील दास स्त्री-पुरुष संबंधों पर बनाई गई पेंटिंग्स में भौगोलिक विस्थापन से आगे बढ़कर मनुष्य के आत्म के विस्थापन को चित्रित कर सके हैं। यह उनके कलाकार का महत्त्वपूर्ण प्रस्थान है। सुनील दास के ये चित्र ही उनकी सार्थक कलाकृतियाँ हैं, जिनका अन्य समकालीन 'पाठ' तैयार होता रहेगा इतनी सम्भावनाएँ इनमें सुरक्षित हैं। सुनील दास अपने कला माध्यमों के प्रयोग के बारे में बताते हैं – *''I use any material that appeals to me, thread, lac, gauze, vegetable dyes and burnt plastic..."* निश्चित तौर पर चाक्षुष माध्यम में अधिक सुघड़ संप्रेषणीयता लाने के लिए विभिन्न चीजों का इस्तेमाल किया जाना चाहिए जो कलाकार को जरूरी लगे, लेकिन उनका प्रयोग 'संयोजन का सौंदर्य' न बनकर 'सतर्क सौंदर्य का संयोजन' बन सके तो अधिक प्रेयकर होता है। ऐसा मुझे लगता है। ■

आलोक पुराणिक

आगरा, उत्तर प्रदेश में जन्म। विभिन्न समाचार-पत्रों में नियमित व्यंग्य लेखन। 10 व्यंग्य-संग्रह प्रकाशित। वनलाइनर व्यंग्य सहित लगभग तीन हजार व्यंग्य लेख प्रकाशित। अनेक संस्थाओं से सम्मान प्राप्त।

ईमेल - puranika@gmail.com

समुद्र तल से ऊँचाई

-आलोक पुराणिक

बहुत सी बातें समझ नहीं आतीं जी, पर वो चल रही हैं जी।
शेर चिड़िया धूँ धूँ
ब्लास्ट भौ भौं भौ

यह दो लाइनें मुझे समझ में ना आयी थीं, पर एक प्रखर आलोचक ने मुझे बताया कि यह तो विकट क्रांतिधर्मी कविता है। शेर यानी पूंजीपति को चिड़िया यानी विपन्न वर्ग धूँ धूँ उड़ा देगा, ब्लास्ट होगा धमाका होगा और क्रांतिकारी भौं भौं के आगे पूँजीपति दुम दबाकर भाग जायेंगे। ऊपर लिखित दो पंक्तियों का आशय यह बताया गया था मुझे। जिन्हें फालतू की लाइनें समझ रहा था, वो तो विकट क्रांतिधर्मी लाइनें निकलीं।

यानी आपकी समझ में कुछ ना भी आ रहा हो, तो उससे किसी चीज का महत्त्व कम ना हो जाता। कविता क्रांतिधर्मी ही रहती है भले ही उसे समझने में आपकी अक्ल से धूँ धूँ धुआँ निकलने लगे, कविता ना समझ आये तो भी वह क्रांतिधर्मी ही रहती है।

किसी बात के समझ में आने या ना आने से उस बात को फर्क ना पड़ता।
अभी एक चुनाव में एक नेता ने घोषणा की- हर घर के आगे मेट्रो स्टेशन होंगे। हर घर के ठीक सामने से मेट्रो ट्रेन चला करेगी। मैंने कहा– आपकी बात मुझे समझ नहीं आ रही है। ठीक यही बात आपने दस साल पहले के चुनाव में भी कही थी।

नेता बोला- आपको समझ में बहुत चीजें ना आतीं, इसका मतलब यह नहीं है कि वो चलेंगी नहीं या कामयाब नहीं होंगी। आपकी समझ बहुत छोटी है, दुनिया बहुत बड़ी है। मेट्रो स्टेशन आपके घर के ठीक सामने होगा- इस वादे पर नेता चार छह चुनाव जीत सकते हैं.

शेर चिड़िया... समझ ना आये तो भी क्रांतिधर्मी पंक्ति है।
समझने से क्या होता है।

मुझे समझ में आता है कि उस भ्रष्ट नेता के बेटा उससे ज्यादा भ्रष्ट है। पर वो दोनों ही चुनाव जीतकर टाप पोजीशन हासिल करते हैं। मेरी नामसझी से कोई फर्क नहीं पड़ रहा है और मेरी समझ का भी कोई फर्क नहीं पड़ रहा है बरसों से मेरी समझ में यह बात नहीं आ रही है कि तमाम स्टेशनों पर यह बात क्यों लिखी जाती है- समुद्र तल से ऊँचाई 214 मीटर या आठ मीटर या कितने भी मीटर।

बंदा कोई भी स्टेशन पर उतरेगा, उसे इस बात से क्या मतलब कि वह स्टेशन समुद्र सतह से कितने मीटर ऊपर। अलबत्ता दिल्ली जैसे शहर में इस बात से जरूर फर्क पड़ सकता है कि तमाम आटो रिक्शावाले अपने मीटर के किराये से कितनी ऊपर रकम यात्रियों से वसूलेंगे। आटो वाले मीटर से कितना ऊपर वसूलेंगे, यह बात स्टेशन पर लिख भी दी जाये तो भी कोई असर ना पड़ने का। आटोवाले लिखी रकम से भी ऊपर वसूलेंगे। आटोवालो को कोई फर्क नहीं पड़ता कि कहाँ क्या लिखा है। आटो वालों के पास आटो में अंदर एक मीटरनुमा लगा होता है, जो सरकार की तरह होता है। होता है, पर काम नहीं कर रहा होता है। सरकार भी काम नहीं करती, हम कुछ नहीं कर सकते। आटो का मीटर भी काम नहीं करता, हम कुछ ना कर सकते।

स्टेशन समुद्री सतह से कितना ऊपर है- यह जानकारी देने के बजाय अगर यह बताया जाये कि इस रेल स्टेशन से करीब पाँच किलोमीटर दूर एक थोक की सब्जी मंडी है, वहाँ प्याज दो रुपये किलो मिल रहे हैं। इस सूचना से बहुत लाभ हो सकता है। ऐसी जनहितकारी सूचनाएँ दी जानी चाहिए। समुद्र की सतह से कितनी ऊपर टाइप जानकारियों से आम आदमी को कुछ हासिल नहीं होता। समुद्र की सतह से ऊपर की जानकारी क्यों दी जाती है- इस टाइप के सवाल आईएएस के एक्जाम में पूछे जाते हैं। आईएएस बनने वाले अफसर बनने से पहले इस टाइप के सवालों के बहुत दिमाग और समय लगाते हैं। इसलिए अफसर बनने के बाद जनहित के सवालों को हल करने में उन्हे बहुत आफत आती है। आईएएस अफसर के इम्तिहान में सवाल इस तरह के होने चाहिए-आटोवाले अपनी सवारियों से मीटर से सौ प्रतिशत ज्यादा वसूलते हैं। वो सिर्फ पचास प्रतिशत ज्यादा वसूलें, ऐसा सुनिश्चित कैसे किया जाये। ऐसे जनहितकारी सवालों को हल करके बंदा आईएएस अफसर बने, तो जनहितकारी काम करेगा।

"आपकी समझ में कुछ ना भी आ रहा हो, तो उससे किसी चीज का महत्त्व कम ना हो जाता। कविता क्रांतिधर्मी ही रहती है भले ही उसे समझने में आपकी अक्ल से धूँ धूँ धुआँ निकलने लगे, कविता ना समझ आये तो भी वह क्रांतिधर्मी ही रहती है।"

खैर मेरा निवेदन यह है कि रेलवाले यह करें कि आलू प्याज टमाटर जैसी महत्वपूर्ण सब्जियों की महँगाई से जनता को बचाने के लिए कुछ ठोस कदम उठायें। हर स्टेशन पर स्टेशन के नाम के नीचे इस आशय की सूचनाएँ लिखवायें- इस स्टेशन से तीन या दो या एक किलोमीटर दूर की मंडी में प्याज दो रुपये किलो मिल रहा है या चार रुपये किलो, टमाटर दस रुपये किलो है या पाँच रुपये किलो। आम जनता का ज्यादा भला होगा।

समुद्र की सतह का कोई क्या करे, उत्तर भारत की अधिकांश जनता को कभी समुद्र देखने का मौका ही नहीं मिलेगा, भले ही कोई नेता यह वादा ही क्यों न कर दे कि भोपाल के तालाब में प्रशांत महासागर को गिरा दूँगा।

विज्ञान व्रत

तेड़ा (मेरठ) उ.प्र. में जन्म, सुप्रसिद्ध ग़ज़लकार और चित्रकार, ग़ज़ल, दोहा, नवगीत और बाल साहित्य की सोलह पुस्तकें प्रकाशित, राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय पर अनेक सम्मान/पुरस्कार.

ईमेल - vigyanvrat@yahoo.com

गजलें

-विज्ञान व्रत

मैं था तनहा एक तरफ़
और ज़माना एक तरफ़

तू जो मेरा हो जाता
मैं हो जाता एक तरफ़

अब तू मेरा हिस्सा बन
मिलना-जुलना एक तरफ़

यों मैं एक हक़ीक़त हूँ
मेरा सपना एक तरफ़

फिर उससे सौ बार मिला
पहला लमहा एक तरफ

2.

सामने बैठे रहे तुम
हौसला देते रहे तुम

घूरते थे लोग तुमको
क्यों मुझे पढ़ने रहे तुम

जब रहे ओझल सभी से
क्यों मुझे दिखते रहे तुम

मैं ग़ज़ल पढ़ता गया बस
अर्थ-से खुलते रहे तुम

लोग तुमको सुन रहे थे
पर मुझे सुनते रहे तुम

3.

आपसे रिश्ता रहा
और मैं ज़िन्दा रहा

था नहीं मैं उस जगह
बस वहाँ दिखता रहा

ख़त कभी भेजा नहीं
पर उन्हें लिखता रहा

वो न थे मंज़िल मेरी
जिनका मैं रस्ता रहा

मैं कहीं पहुँचा नहीं
यों सदा चलता रहा

4.

सारा ध्यान ख़ज़ाने पर है
उसका तीर निशाने पर है

अब इस घर के बँटवारे में
झगड़ा बस तहख़ाने पर है

'होरी' सोच रहा है उसका
नाम कहाँ किस दाने पर है

सबकी नज़रों में हूँ जब से
मेरी आँख ज़माने पर है

काँप रहा है आज शिकारी
ऐसा कौन निशाने पर है

■

हरीश नवल

जालंधर, पंजाब में जन्म। 30 मौलिक, 10 संपादित पुस्तकें प्रकाशित। 112 पुस्तकों में सहयोगी लेखन। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में 2000 रचनाएं प्रकाशित। कई राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय संस्थानों से सम्मानित।

ईमेल - harishnaval@gmail.com

ओह अमेरिका आह अमेरिका

-हरीश नवल

शस्यश्यामला भारत भूमि में जन्म लेने वाले महानगरीय जीव जब युवा होने लगते हैं, उनके दिल में बहुत से अरमान उगने लगते हैं । इन अरमानों में प्रायः मुख्य अरमान प्रेम सम्बंध होने की चाह का होता है। इसके बाद वाले अरमानों में एक बड़ा अरमान अमेरिका जाने का रहता है। हम भी महानगर में पले बढ़े और जब जवान होने लगे, औरों की भाँति हमें भी अमेरिका गमन का विचार आता रहा और हम इसका दमन करते रहे क्योंकि मन तो बहुत था किंतु साधन बहुत कम थे। कहते हैं ना! अगर आप कुछ ठान लो तो सारी कायनात आपका साथ देती है- सो हमने भी ठान लिया और कायनात को धार्मिक भावना से विचारते रहे और सच में हमें अमेरिका जाने का एक अवसर मिल गया। हालाँकि कायनात ने हमारी इच्छा तब पूरी की जब हम जवानी से प्रौढ़ावस्था में दाखिल हुए और दो बच्चों के पिता भी बन गए। अमेरिका में आयोजित एक सम्मेलन में हमें भी बुलाया गया था, हम वहाँ सम्मेलन के तीन दिन के आयोजन के बाद बीस दिन अमेरिका में रह सके, हमें वीजा एक महीने का ही मिला था जिसका भरपूर उपयोग हमने किया। हमने अपनी डायरी में अमेरिका के अपने रोजाना के अनुभव लिखने शुरू किये।

सर्वप्रथम तो हम अमेरिका की स्वच्छता देखकर बहुत प्रभावित हुए। सड़क पर कोई काग़ज़ का टुकड़ा या तिनका हमें नहीं दिखा। अमेरिका में कोई सामान खरीदो तो उसे कई महीने बाद भी वापिस कर सकते हैं और वह भी बिना किसी कटौती के। अपने देश में हम कोका कोला जैसा पेय पदार्थ जब खरीदते हैं और पीने के बाद दूसरी बार पीना चाहते हों, हमें पुनः दाम देकर उसे खरीदना होता है परंतु ओह! अमेरिका वहाँ एक बार के दाम में आप अनेक बार अपना गिलास भर-भरकर पी सकते हो सो हमने अपना गला वहाँ तर रखा। वहाँ जब आप रेल, बस या हवाई जहाज़ से यात्र करें तब जितने में केवल जाने की टिकट होती है, उससे थोड़े ही अधिक में आने जाने की टिकट मिल जाती है जबकि भारत में जितनी जाने की उतनी ही आने की खरीदनी पड़ती हैं ।

अमेरिका में मोबाइल से देश में कहीं भी बात करो कोई शुल्क नहीं लगता । यहाँ तक कि वहाँ से भारत या किसी और देश में फोन करना हो अत्यंत रियायती दरों के पैकेज मिल जाते हैं। एक दिन वहाँ पैंतीस डिग्री से अधिक तापमान बढ़ गया तो हमने पाया कि सड़क पर जा रहे राहगीरों को सरकारी वातानुकूलित बसों में बिना शुल्क लिए बिठाया गया, हमें तो उतनी गर्मी

महसूस नहीं हुई लेकिन टन, टन करती अनेक तरह की आईसक्रीमों से भरी गाड़ी हमारे पास आकर रुकी और वहाँ खड़े नागरिकों को मुफ्त में कितनी ही आईसक्रीम खाने के लिए आमंत्रित किया।

कैसा अद्भुत देश जहाँ स्कूलों में कोई फीस नहीं, ऊपर से बढ़िया खाना-पीना और स्कूल बस में आना-जाना भी एक़दम फ्री। बुजुर्गों के लिए बहुत ही अच्छी सुविधा देखी। उनके लिए जगह-जगह बहुत बड़े-बड़े क्लब बने हुए है जहाँ घर से ले जाने और छोड़ने की बसों की व्यवस्था निशुल्क है। यदि क्लब में किसी को भोजन करना है तो मात्र एक डॉलर में कर सकता है जबकि वहाँ पानी की एक बोतल तीन चार डॉलर में मिलती है। हम देखते गए और अमेरिका में बसने का निश्चय पक्का करते रहे। वहाँ मकान मालिक और किरायेदार के झगड़े नहीं होते। वहाँ के कानून ऐसे हैं कि, न मकान मालिक ज्यादती कर सकता है और न ही किरायेदार।

उन बीस दिनों में हमने एक और सुविधा ली जिसके अनुसार कैसिनों में जाने के लि, फ्री बस सर्विस है और खेलने के लिए बीस डॉलर भी प्राप्त होते हैं। हमने पहली बार कैसीनो की मशीनों को आजमाया और बहुत हैरान हुए जब हमें मुफ्त में वहाँ घूम रही महिला वेटरों ने खाना-पीना कराया। ऐसा सुंदर साफ़ सुथरा सुविधाओं से भरा देश हमें बहुत भाया लेकिन हम जब लौट कर आने के लिए विमान में बैठे, हमने अपने अमेरिका में बसने के निश्चय को पटक कर चूर-चूर कर दिया जिसके पीछे कुछ ऐसे ठोस कारण थे जिन्होंने हमारे दिल से अमेरिका को निकाल बाहर किया। हमने सपनों में जब यथार्थ को अलग किया, हमें भारत प्यारा लगने लगा। हमने पाया कि अमेरिका में कच्चे मकान होते हैं जो खूबसूरत तो बहुत लगते है किंतु उनमें जान नहीं होती उनमें सीमेंट और ईंट कम कार्डबोर्ड और प्लाई अधिक होती है अपनी दीवार में ठोंकी गई कील पड़ौसी के घर में भी कपड़े टाँगने के काम आ सकती है- यहाँ तक तो चल जाता लेकिन वहाँ रिश्ते भी मकान की तरह कच्चे ही होते है। विवाहित जोड़े बार-बार बदले जा सकते हैं और बच्चे किशोर होते ही लड़का हो अथवा लड़की माता पिता का घर छोड़ कहीं और बसने लगते हैं। माँ का पति तीसरा हो सकता है और पिता की चैथी पत्नी । ऐसे में परिवार कैसे बने। सगे भाई-बहन कम सौतले अधिक होते हैं, हमने पहली बार सुना कि हाफ ब्रदर और हाफ सिस्टर जैसे रिश्ते भी वहाँ होते हैं । यदि घर में पति या पत्नी की माँ का रहना आवश्यक हो, उनके लिए सेवकों के घरों जैसे आउट हाउस बनाए जाते हैं । अमेरिका में ऐसे भी शहर हैं जहाँ बच्चों के क्रच (पालन केंद्र) कम है और पालतु पशुओं के अधिक हैं।

भारत में हम गदंगी में रह लेते हैं, टूटी सड़कें, गुल बत्तियाँ बर्दाश्त कर लेते हैं, महँगाई की मार निरंतर सहते है लेकिन हमारे घर और रिश्ते पक्के हैं। हमारे यहाँ दादा-दादी, नाना-नानी, ताऊ, चाचा, मौसा, मामा, बुआ आदि आदि रिश्ते अभी तक क़ायम हैं। हम अपने जैसा भी है भारत के घर में संतुष्ट है। अमेरिका में पाँच साल का बच्चा भी अगर पुलिस को फोन कर दे कि उसे उसके पापा ने ज़ोर से डाँटा तो पुलिस पापा को पकड़ लेगी। लेकिन हमारे यहाँ आज भी पिता अपने तीस साल के बेटे को डाँट सकता है और वह डाँट खा लेता है क्योंकि उसे पता होता है कि उसे वैसा ही दुलार थोड़ी देर बाद मिल सकेगा जैसे बचपन से मिलता आया है । वाह! भारत, आह! अमेरिका ।

मनीषा कुलश्रेष्ठ

जन्म जोधपुर में। अब तक 8 कहानी संग्रह, 6 उपन्यास, यात्रा वृत्तांत एवं प्रेम कविताओं का संकलन प्रकाशित। कई अनुवाद कार्य। हिंदी वेब पत्रिका 'हिंदीनेस्ट' का 20 वर्षों से संपादन..

ईमेल - manishakuls@gmail.com

एक ढोलो दूजी मरवण...तीजो कसूमल रंग

-मनीषा कुलश्रेष्ठ

"अपने शहर से सालों बाद गुज़रना कैसा रहा? "कोई पूछता तब तो बताती! किसी ने पूछा ही नहीं, न लोगों ने न उस शहर ने. वह शहर तो खुद अपनी शिनाख़्तों से पीछा छुड़ाता हुआ, मेरे आगे कोहरा ओढ़े बैठा था। मुझे ही कौनसा ठहरना था वहाँ? मैं तो बस कुसमय, संयोग ही से वहाँ जा पड़ी थी, दो घंटों के लिए।

महानगर की चहल-पहल में मेरे आगे कई तरह के मौन- मुखर प्रेम गुज़रते रहे हैं. कई महान प्रेम मेरे सामने-सामने ही अपनी चमक खो बैठे. दो बरस पहले आँख के आगे गुज़रा वह प्रेम आज भी जब याद आता है, तो सारे प्रेम और उनके किस्से फीके लगते हैं. ऐसा प्रेम जिसके होने का, समय के बीत जाने पर ही पता चला। यकीन मानिए, जब यह बीत रहा था, तो न हमें पता था, न शायद उन्हें जिनके बीच यह बीत रहा था। क्या पता कि पता ही हो? क्योंकि ज्ञात होने पर भी वह अज्ञात ही- सा था! वह प्रेम था भी कि हमारा भ्रम था. जिनके बीच लगा कि यह है, वे भ्रमित थे कि हम? यह बात मैं आज तक समझ नहीं सकी. उस प्रेम को किस्से की तरह सुनाना बहुत कठिन और चुनौतीपूर्ण है. वह था ही इतना आभासी और वायवीय, जिसे बस मैं समझी कि वो, जो मेरे साथ था. पूरी बस में और कोई नहीं समझा, जब तक कि वह बस से उतर कर चली न गई.

कहते तो हैं कि कोई-कोई आँखें बहुत बोलती हैं पर ये आँखें तो बोली ही नहीं. बस डोली दो-एक बार। वह बस से उतरी और पूरी बस की हलचलें ले गई। बस में बेजान से लोग बचे रहे। दस-बारह! उनमें मैं थी, वह था और एक वह जो था, जिसे मैं कथा का नायक कह दूँ- बस का कंडक्टर. उसकी तो संपूर्ण चेतना, उसका खिलंदड़ापन वह अपने साथ ले गई। जब उसे अचेत-सा देखा तब लगा, अरे! कोई आँख में से सुरमे की तरह, बहुत चुप्पी-चतुराई से कोई इसका सब्रोक़रार लूट ले गया। इस पूरे पर शुरू से मैं गौर करती भी तो क्यूँ करती? मैं भी उस रोज़ कुछ अनमनी थी।

“अपने शहर से सालों बाद गुज़रना कैसा रहा? “कोई पूछता तब तो बताती! किसी ने पूछा ही नहीं, न लोगों ने न उस शहर ने. वह शहर तो खुद अपनी शिनाख़्तों से पीछा छुड़ाता हुआ, मेरे आगे कोहरा ओढ़े बैठा था। मुझे ही कौनसा ठहरना था वहाँ? मैं तो बस कुसमय, संयोग ही से वहाँ जा पड़ी थी, दो घंटों के लिए। मेरे साथ वह था, जिसे नहीं होना था मेरे साथ। इसलिए भला ही था, इस शहर का मुझसे और मेरा इससे बेशिनाख़्त होना। कमबख़्त शहर ने अपने लैण्डमार्क ‘किले’ को भी मुझसे से छुपा कर झट से, कोहरे के गाढ़े कंबल में दुबका लिया था। मैं उसे यह भी न बता सकी कि- देखो यही किला है, जिसके किस्से मैं तुम्हें सुनाती थी. मैं न कहती थी, कि जो किलों और विशाल खंडहरों की छाँव में पलते हैं उनके वज़ूद में एक अजब किस्म की रूमानियत रिस आती है।

वह बस अड्डे पर ही इधर उधर आँखें दौड़ा कर, मेरे शहर, मेरे अतीत की टोह लेने लगा, फिर हंस कर बोला- तुम्हारे शहर की लड़कियाँ लंबी और सतर होती हैं। मैं मुस्कुराती हुई भी भीतर कहीं अनमना गई। इन पुरुषों के भीतर कभी न बड़े होने वाले लड़के पर खीज हुई।

हम अपनी आवारगी में, फिलहाल कहीं से आए थे और कहीं नहीं पहुँचना चाहते थे। लेकिन कहीं तो पहुँचना था, ऎसी बस जो समय की रफ्तार को धीमा कर दे. हो सके तो रोक ही ले समय. हमें बस बदलनी थी यहाँ. सुबह तीन बजे हम उतरे थे मेरे इस पुराने शहर में. एक घंटे ठंडी बैंच पर बैठे फिर आगे के लिए वहीं से शुरु होने वाली एक बेहद साधारण बस में जा बैठे। जिसे अभी बहुत देर बाद में चलना था और रुक-रुक कर गंतव्य तक पहुँचना था। मैंने बस की खिड़की से देखा, शहर ने कोहरे में किले को यूँ छिपा लिया था जैसे अलगाव के बाद मैं कोर्ट जाकर उससे अपना और उसका किला ही कहीं न माँग बैठूँ। किला भी दम साधे बैठा था। बचपन कौंध कर मिट गया। मैं और भावुक होना नहीं झेल सकती थी. मैंने गहरी साँस ली, सीली हुई, धुवांती- गंधाती हुई हवा बस में भरी हुई थी। उसके चौड़े कंधों पर खुद को टिका दिया। उसने अपना चेहरा मुझसे सटा लिया। मुझे संकोच हुआ, अपने शहर के लिहाज में, फिर एक चिढ़ से उपजे विद्रोह में, मैंने पलट कर चेहरा उसके सीने में घुसा दिया और अपने हाथ उसके कंधे से लपेट दिए। बस में पिछली कुहरीली रात अब भी कोनों में ठिठकी थी, उसकी देह की ऊष्मा पाकर मुझे झपकी आगई।

“सर, कहाँ जाएंगे? बस से उतर कर काउंटर से टिकट लेना होगा।” एक ताज़ा नहाया, गोरा युवा चेहरा सामने खड़ा था। उसके हाथ में बस कंडक्टर वाला थैला नहीं, एक इलेक्ट्रॉनिक मशीन थी, टिकट काटने वाली। उसके आने के साथ बस में हलचलें फैल गईं। वह जीवंत युवक था.

पौ फट रही थी, बस को चलने में अब भी आधा घंटा बाकी था। हम बतियाने लगे। कुछ प्रेम, कुछ ज़माना, कुछ उम्र, कुछ अनुभव और उसका वर्तमान। मेरा वर्तमान कोहरे से भरा था, कोई अतीत किला बन कर पीछे छिपा था।
“फ़ौज़िया, तुमसे शादी कर लेता मैं, अगर थोड़ा और बोहेमियन किस्म का हो पाता थोड़ी-सी कमी रह गई. न चाह कर भी कुछ हिस्सा दुनियादारी बच रही भीतर!” शैलेश कसमसाया.
”बातें!... ये बातें तेरी वो फ़साने तेरे, शगुफ़्ता-शगुफ़्ता बहाने तेरे.” मैं गुनगुनाने लगी तो कंडक्टर ने मुड़कर देखा.
”तो बन जाओ पूरे बोहेमियन, अब भी क्या

बिगड़ा है? इस पर तुम कहोगे 'बच्चे क्रूशियल उम्र में हैं !!' अब जाने दो न, यूँ भी बीतती उम्र की शादी 'नाईट्मेयरिश' है. सारी हमख़्याली धरी रह जाती है, निजी स्पेस की आदत के आगे."

वह वाक्य पूरा ही न कर सका था कि मैं आवाज़ बिगाड़ कर बोली... वह चुपचाप मेरे चेहरे पर पुती कड़वाहट देखता रहा, उसकी काली-सफेद घनी मूँछ थरथराई. शायद कोई बात वह होंठों पे आने से पहले गटक गया. थोड़ी देर एक मौन हमारे बीच बिलखता रहा. फिर वह बोला, मुझे बाजुओं से अपनी तरफ खिसकाते हुए.

"जानता हूँ कि एक बार कलकत्ता लौट जाने के बाद तुमसे दूरियाँ हो जाएंगी. लेकिन मैं आता रहूँगा न..."

."यार तुम बहुत अच्छे क्यूँ हो? बिना 'गिल्ट' के इस रिश्ते को ख़त्म नहीं कर सकते?" मैं बुरी तरह खीज जाना चाहती थी.

"यह खत्म होना नहीं है.यह रहेगा...." वह पता नहीं किस को बहला रहा था.

"यह पैटर्न तो वही है शैलेश, जो एक्सपायरी डेट आने पर हर प्रेम का होता है. सुनो गिल्ट मत रखो मन में. एक दिन तो लौटना तो था ही न तुम्हें. रहा प्रेम तो वह उस अजनबियों की भीड़ भरी दुनिया में हम दोनों की ज़रूरत भर था."

"अब तुम?"

"अब मैं? हँ... अपना क्या? " हँस कर ज़रूर कहा मैंने, पर मन भंगुर हो रहा था.

"मेरा मतलब तुम भी वह काँक्रीट का जंगल छोड़कर इस शांत- रुमानी शहर में लौट आओ, तुम्हारा अपना शहर। कोई तो होगा न यहाँ?" उसके हाथ स्नेह से मेरी ठंडी उँगलियाँ गर्म कर रहे थे.

"बस में बैठी, वैधव्य को ढोती एक प्राइमरी की टीचर और बस कंडक्टर के चेहरों पर खिले...अव्यक्त, अदेहिक मगर मासूम प्रेम के कसूमल रंग को, एक आधुनिक जोड़ा शिद्दत से महसूस कर पाता है, जबकि उनके खुद के बीच प्रेम, तमाम मुखरता के साथ मौजूद होने के बाबजूद विलोप होने की कगार पर है।"

"यहाँ मेरे लिए क्या काम होगा? यहाँ अम्मी के जाने के बाद कोई अपना नहीं रहा, शैलेश। रिश्ते के भाईयों- रिश्तेदारों की भीड़ से बेहतर वही भीड़ है, मैट्रो शहर की, जहाँ खुद को कैमोफ्लैज किया जा सकता है आसानी से। जैसा तुम कह रहे हो कि.... यानि वहाँ तुम्हारे अकसर आने की उम्मीद बची रहेगी."

हम बेजा बातों के लच्छे लपेट रहे थे. जिनका कोई मतलब नहीं बचा था. मन सुन्न था, अलगाव की आगत- आहट से। बीतते पर संशय था।

मेरे मन का एक हिस्सा उसे तमाम जद्दो जहद से थक- हार कर पूरी तरह भूलना चाहता था। और दूसरा हिस्सा भूल जाओ के ख़्याल मात्र से चीख पड़ता था, जैसे किसी ने पके घाव को छू भर लिया हो। मन के कई नहीं तो कुछ हिस्से होते तो होंगे, यह उस पल में एकदम सत्य प्रतीत हुआ। फिर नवीं कक्षा में ब्लैकबोर्ड पर बनी ह्रदय की संरचना याद आ गई - आलिंद और निलय और उनसे निकलती धमनियाँ - शिराएं।

मैं अपने दिल के विरोधाभास पर घबरा गई।
“मैं काउंटर से टिकट ले आती हूँ.”
मैं बस से उतर कर ताज़ी हवा खाना चाहती थी, मैं उसे यह कहने का साहस जुटाना चाहती थी- कि मेरा एक मन तुम्हें भूलने की भूमिका बना चुका है। दूसरा मन जो चीख कर रोता है, तुम्हारे लिए एक दिन वह भी चुप हो जाएगा। मेरे जीवन के सारे दरवाज़े तुम पर बंद हो जाएँगे कि फिर कभी लौटे भी तुम तो शहर में एक ही व्यक्ति होऊँगी जो तुमसे मिलने में कतराएगा। बेहतर है आज ही रोक लो इस प्रेम को भौंथरा होने से। कुछ करो. “
युवा कंडक्टर मुझे देख रहा था, मैं अकेले गरदन ऊपर किए धुंध का नमकीनपन साँसों के अंदर ले रही थी. मैं नियमित तौर पर सिगरेट नहीं पीती पर उस पल दिल ने चाहा और मैंने बगल की चाय- पान की दुकान से खरीद भी लिया एक पैकेट सिगरेट का. मेरे सिगरेट सुलगाते ही कंडक्टर चौंका. उसने मेरे समेत चाय की दुकान पर खड़ी बस की सवारियों को इशारा किया बस में बैठने का. बस का ड्राईवर सीट पर आ जमा था. मैंने जल्दी-जल्दी पाँच- सात कश लगाए, और आधी सिगरेट पास खड़े, ठिठुरते भिखारी को दे दी. मैं भीतर आकर उसके पास बैठ गई, उन सोची हुई बातों के दबाव से मन वाष्प होता उससे पहले बस चल पड़ी। बस के चलते ही दृश्य बदलने लगे। समय बदलाव की हरकतों से भर गया।
उससे सटते ही सारा सोचा हुआ बेमानी हो गया. आह! कितना शांत है यह व्यक्ति. स्थिर और गहरा. प्रेम की गरिमा में डूबा. निभाता हुआ लगातार. मेरी अनवरत आशंकाओं और नकारात्मकता को थपथपाकर मिटाता हुआ. हमें शुरु ही से जिस प्रेम का भविष्य पता था, उसे इस गरिमा से यहाँ तक लाने में सारा श्रेय इसी का था, मैं तो बात- बात पर कैंची चलाने वालों में से थी. इस आतप्त प्रेम के बाद दुनियादार दुनिया में उसका लौट जाना शुरु ही से तय था. मैंने गहरी साँस लेकर उच्छवास छोड़ी. उसके दो दिन से बिना शेव किए गालों से टकराई, उसने अखबार रख दिया. अपने लंबे बाज़ू मेरे कंधे पर लपेट दिए, मेरी टखनों तक लंबी घेरदार स्कर्ट में उलझे उसके हाथ मेरे ठंडे घुटने छू रहे थे. मेरी उँगलियाँ रह रहकर उसकी कनपटी से अपनी यात्रा शुरु करतीं, बढ़ी दाढ़ी से होकर, कॉलर बोन से टकराती फिर सीने पर उतर आतीं.
कंडक्टर की निगाह उचट कर गिरती, हमारी मध्यवयस की निकटताओं पर एक तटस्थ हैरानी के साथ सर्र से फिसल जाती. हम दोनों कलाकार थे, दुनियादार हद तक सफल भी. हमारी पेंटर जोड़ी उस मेट्रो शहर में लोकप्रिय थी. हमने दुनिया- जहान में साथ चित्र- प्रदर्शनियाँ कीं थीं. कुछ प्रसिद्ध म्यूराल्स साथ बनाए थे. हम दोनों आधुनिक भी थे- बोहेमियन भी. वह कंडक्टर कस्बाई था, तनिक गंवई भी. बस शहर ही में टहलकदमी कर रही थी. दरगाह, सूखी गंभीरा का पुल, कलेक्ट्रेट...और फिर रुक गई थी बस. स्पर्शों- बातों के व्यातिक्रम में अटके हम दोनों बीतते समय से खेल रहे थे. मेरी लंबी चोटी ढीली होने लगी थी. वह उससे खेलने लगा. मैंने अपनी आँखें खिड़की के बाहर मोड़ दी, जो कि सहसा भर आई थीं. जाने आख़िरी बार इस शहर को विदा देते हुए या उससे आखिरी बार की इस मुलाक़ात के बीतते चले जाने से. बस में ज़्यादा भीड़ नहीं थी, बल्कि कुछ सीटें खाली थीं. शहर छूटते हुए सुबह कोहरे से बाहर आ गई थी. बस में कस्बाई यात्री थे, लीर- लीर हो गई पगड़ी वाला बूढ़े किसान। थकान से भरी, गँधाती

गाड़िया लोहारन, पंचायत समीति के स्कूलों में पढ़ाने जाती रोज आने-जाने वाली बहनजियाँ. बहुत जाना और जिया हुआ था यह सब.
हम दोनों सबसे आगे बैठे थे. मैं हमेशा से जानती थी कि हमारा प्रेम, लोगों की निगाह में खटकने जैसा मुखर है. वहाँ भी और यहाँ भी..... हमारी उम्र का फर्क, मेरे मुस्लिम नुकूश ही नहीं बल्कि बातचीत लहज़ा भी. लेकिन हम हर तरफ से जानबूझ कर बेख़बर थे, अपने प्रेम के संभावित अंत के कारण कुछ विद्रोही भी हो रहे थे.बातें चुक रही थीं. एक दूसरे से सटे थे बैठे हम. शैलेश पल- पल चुकते सान्निध्य की शेष ऊष्मा में ऊँघने लगे थे.मैं भी ऊँघना चाहती थी पर मेरी नाभि के आस- पास कोई चक्रवात घुमड़ रहा था। क्या यह वही कविता थी जो रात नाभि के आस-पास गूँजी थी? जब मैं उसके कंधे पर टिकी मेरा सिर, सिर नहीं रहा था, कोई दरकती चट्टान बन गया था. उसने आँख खोलकर आँख ही से पूछा- ‘’क्या?”
“मत जाओ, न!” मगर मेरा गला सूख कर कंटीला थूर बन गया था। शब्द जो बाहर आना चाहते थे उन काँटो में फँस कर मर गई तितलियों में बदल गए थे। यूँ भी अर्थ क्या निकलता, निरर्थक शब्दों का?
कुछ गाँव पीछे छूट गए थे. टिकट बाँटते हुए युवा कंडक्टर सबसे बतिया रहा था. हालचाल पूछ रहा था रोज़ जाने- आने वालों से. किसी वृद्धा यात्री से मज़ाक भी कर रहा था. एकाएक उसकी अस्थिरता बढ़ गई. वह हमारे पास आकर बोला- ‘ सर ये सूटकेश उधर को खसकादो.”
मेरा सूटकेस ड्राईवर के केबिन के ठीक बाहर रखा था, मेरे चेहरे पर प्रश्न उभरा- कि- क्यों भई. तो वह बोला- “सवारियाँ आएंगी ना.”
केबिन में बस एक लंबी सीट थी, बस के स्टाफ़ के लिए, बस में पीछे खाली सीटें थी. उसके कहने से सूटकेस हमारे पैरों के नीचे आ फ़ँसा, हमारी आरामदेह मुद्रा खंडित हो गई. हमने उसे मन ही मन कोसा. फिर वह हमारी सीट के पास सर पर खड़ा होगया. हमारी सीट के ऊपर सामान रखने वाली जगह में हमारे बैग को वह खिसका रहा था. शैलेश ने शांत भाव से उससे पूछा- “ अब क्या हुआ?”
”सर, यहाँ ऊपर मेरा गद्दा और रजाई है, बिछाकर आराम करूँगा.आप बोलो तो आपका सूटकेश ऊपर रख़ दूँ?” श को स और स को श या फिर स को ह कहने का निपट मेवाड़ी ढँग मुझे गुदगुदा गया. उसने जोर लगाकर सूटकेस हमारे पैरों से निकाल कर ऊपर फँसा दिया. हम फिर स्वतंत्र थे, पैरों में पैर उलझाने को. कंडक्टर के चेहरे पर बहुत दबी मुस्कान मुझे दिखी.

वहाँ से उसने अपना गद्दा और रजाई निकाले, ड्राईवर के केबिन में सीट पर करीने से पहले उसने रजाई बिछा दी, अंदर इंजन के ढके बोनटनुमा हिस्से पर उसने गद्दा यूँ ही पसार दिया. उसका नीड़- सा तैयार था, पर वह सोने की जगह बस में घूम कर टिकट के पैसों की वसूली कर रहा था, या चिल्लर लौटा रहा था.
“काका सा, फटाफट हिसाब पूरा कर लो... ये लो बाकि के सात रुपए...किस- किस का टिकट बाकि है? जल्दी- जल्दी करो, अंटी जी.”
जब तक वह निपटा टिकट बाँटने- चिल्लर लौटाने के काम से, तभी बस रुकी. किसी कस्बे के बाहर बना बस स्टेंड था. वह चिल्लाया- “गुलाबपुरा- गुलाबपुरा”
एक मरून लुगड़े वाली भीलनी अपने बच्चे के साथ बस के भीतर झाँकी- “शाहपुरा में शहर के अंदर जाएगी बस?” वह झपट कर बोला- “नहीं

जाएगी. हटो हटो."
भीलनी ने फिर तसदीक करना चाही भीतर की सवारियों से, तो वह अबतक का मिठबोला युवक लगभग अधैर्य से चीख पड़ा- कहा न नहीं जाएगी....हटो मैडम को आने दो, आओ आओ."

मैं शैलेश के पैरों के स्पर्शों की बहक में, 'मैडम' को देख न सकी. जब उबरी तो एक पतली सी साँवली युवती सफेद साड़ी और हल्के बहुत हल्के क्रीम कलर के शॉल को ओढ़े केबिन में बहुत सधाव के साथ पैर उठा कर घुसी और सीट पर बैठ गई. हलचलें कह रहीं थी कि पीछे सीटें खाली हैं. मुझे लगा उसको आगे केबिन में बैठने का शौक होगा, क्योंकि बस में एक दम आगे और काँच के सामने बैठ बदलते दृश्य देखते जाने में आनंद तो है. जरूर किसी प्रायमरी स्कूल की टीचर थी वह 'मैडम'. उस पर शुरु में मैंने गौर ही नहीं किया. काबिले- गौर था भी क्या. उससे कोई शब्द, गंध- मद कुछ उत्सर्जित नहीं हो रहा था, बस एक बहुत गहरी उदासीनता, पूरे व्यक्तित्व में.

"मारू थारा देस में निपजे तीन रतन- एक ढोला.. एक मरवण..तीजो कसूमल रंग."'कसूमल रंग', मैं मुस्कुराई, शुरुआत में हमारे साझे चित्रों में भी शैलेश चकित हो जाता था, "यार ये कौनसा रंग है जो तुम हर चित्र में ले आती हो, न जामुनी, न लायलेक, न गुलाबी, न ही लाल, न मैजेंटा ! तब मेरी सो चुकी याददाश्त के चलते मेरे पास उत्तर नहीं होता था. आज है।"

कंडक्टर महोदय इंजन के उभार पर बिछे गद्दे पर विराजमान थे. हल्के सुर में राजस्थानी गाने चल रहे थे. "उड़ियो रे उड़ियो डोडो डोडो जाय रे...म्हारो सुवटियो" मेरी कल्पनाओं के कोटरों से तोते निकल कर उड़ने लगे, हरे बचपन की ओर.

कुछ देर बाद हम दोनों प्रेम के अतिरेक से उबर कर आस-पास का जायज़ा ले रहे थे. अपने आस-पास के दृश्य में गहरी दिलचस्पियों के साथ हम दोनों ने कुछ चीज़ों को एक साथ नोटिस किया. उस युवती के साँवले साधारण चेहरे पर बड़ी-बड़ी आँखों ने मेरा और शैलेश दोनों का ध्यान खींचा. बहुत सुंदर आँखें, पर उनमें ये पीड़ा जैसा क्या था? फिर हमने गौर किया उसकी सफेद साड़ी और क्रीम कलर दुशाले पर. वह वैधव्य ओढ़े थी, या वैधव्य उसे ओढे था! मैंने और शैलेश ने एक दूसरे को देखा.बिनकहे कहा- आज के ज़माने में भी? कितनी बच्ची-सी है यह तो!

वह सतर बैठी थी, सीट पर बिना पीछे टिके. शॉल कस कर लिपटा था. होंठ भिंचे हुए थे कि बस में चलती किसी भी हरकत पर फड़क न उठें. बहुत लंबे अंतराल से वह बिना सिर मोड़े बड़ी गहरी नज़र से 'स्लोमोशन' में सबको देखती, लौटते हुए बस कंडक्टर के वज़ूद पर 'फ़ास्ट फॉरवर्ड' हो जाती जो बिलकुल उसके सामने लेटा था. सफेद कमीज़, बिना बाँहों की नकली लैदर की भूरी जैकेट और जींस में.

"विधवा की माँग से सूना तो कुछ नहीं होता." शैलेश मुझसे फुसफुसा कर बोला.

"बेवा न हो तो? सिंगल हो? मैं गैरशादीशुदा

हूँ, सफेद कपड़े मेरी भी पसंद में शुमार हैं. माँग आजकल कोई नहीं भरता. हाँ, तुम्हारे प्रदेश में आज भी नाक से लेकर...” मैंने उसके कान में कहा तो वह युवती समझ गई कि हमारी कनफूसियों का केंद्र वह है.

“तो तुम खुद ही देख लो न. गौर किया हो तो लड़कियाँ, शादीशुदा औरतों की माँग में ये सन्नाटा नहीं होता. किसी शहर कि बंद छोर वाली मजलूम गली सा. “शैलेश के ऐसा कहने मात्र से मुझे उसकी माँग कोई उजाड़, सूनी गली लगने लगी. उस पर बहुत बड़ी और घनी बरौनियों वाली आँखें, गली के मुहाने पर उगे दो पीपल. जो उठतीं तो उदास करती हीं, गिरतीं तो रुला ही जातीं. एक तटस्थ और अडिग दुख वहाँ जमा हुआ था. उसकी आँखें केवल आँखें नहीं थी, चाँदनी में भी सुलगता हुआ कोई रेगिस्तान थीं. सारे संसार में विधवाओं की पोषाक चाहे जैसी हो, वे मांग भी न भरती हों। पर आँखों का सूनापन। अनायास किसी लहलहाते खेत का बंजर और रेतीला हो जाने जैसा था.

पूरी सफेद साड़ी कोमल सँवलाई देह पर विराग जगाए लिपटी थी. पैर में सादा अँगूठे वाली काली चप्पल. स्याह बालों को पूरे अनुशासन में जमा कर पल्ले की निगरानी में भीतर रखा था. रंग बस शॉल में था. हल्की पीली झांईं जो वैधव्य भंग करना चाहती हो.

क्या पता यह किसी एस. टी. सी. स्कूल या बी.एड. कॉलेज की युनिफॉर्म हो?

कंडक्टर की अस्थिरता अब थमी-थमी थी, वह इंजन के बोनटनुमा उभार पर गद्दे पर सर के नीचे हाथ फंसाए अधलेटा था. चुप मगर सुखी- सा. कोई रुहानी ख़ुशी उस पर तारी थी. वह सीधे देख रहा था, चलती बस के नीचे लिपटती- रपटती जाती सड़क को. वह किसी को भी कनखियों तक से नहीं देख रहा था. मेरा मतलब एकदम बगल में बैठी इस युवती को तो मानो जानबूझ कर नहीं देख रहा था. हालांकि उसकी देह-भाषा से लग रहा था कि एक परवाह- सी फिर भी है. उसे उसके प्रति कोई सहानुभूति या कोई सरोकार लगातार था. लेकिन मानो उसके उस दिशा में देखने मात्र से कोई पवित्रता थी जिसके भंग हो जाने का खतरा हो. किसी बहुमूल्य भाव के बहुत कुछ सस्ता हो जाने की शंका हो. यह संयम ही तो था, उस कंडक्टर का जिसे मैं और शैलेश एक साथ महसूस कर रहे थे लेकिन कुछ समझ नहीं पा रहे थे. कुछ तो था उनके बीच जो साईलेंट मैलोडी- सा बस की गुनगुन में तैर रहा था. वह बीच-बीच में बस में चल रहे गानों को, सिस्टम में अलट-पलट कर देता, या वॉल्यूम तेज़- कम करता. कुछ हल्के रूमानी गानों पर वह वॉल्यूम एकदम कम कर देता, गहरे-मार्मिक गानों पर कुछ बढ़ा देता. लोकगीतों की तो धुनों में भी मर्म बींधती रागिनी बसती है.

“मारू थारा देस में निपजे तीन रतन- एक ढोला.. एक मरवण..तीजो कसूमल रंग.“

‘कसूमल रंग’, मैं मुस्कुराई, शुरुआत में हमारे साझे चित्रों में भी शैलेश चकित हो जाता था, “यार ये कौनसा रंग है जो तुम हर चित्र में ले आती हो, न जामुनी, न लायलेक, न गुलाबी, न ही लाल, न मैजेंटा ! तब मेरी सो चुकी याददाश्त के चलते मेरे पास उत्तर नहीं होता था. आज है.

मैंने शैलेश से कहा- “सुनो वो रंग जो तुम पूछते थे न कि यह कौनसा ईज़ाद है तुम्हारा, तो उसका नाम है ‘कसूमल रंग’. मैंने तुम्हें बताया था न कि अब्बा बताते थे कि मेवाड़ी वॉल पेंटिंग्स में यह रंग हिंगलू रंग में पीले की एक मात्रा मिलाने से बनता है. पर तब नाम न याद आया था. ”

“हँ हाँ !” शैलेश को याद आ गया, जब वह

मेरे साथ सांस्कृतिक मंत्रालय के एक हॉल में म्यूराल बना रहा था, तब मैंने उसके पूछने पर बताया था.
“तुम्हारे अब्बा? वे क्या करते थे?”
”वे शादियों में, पूजाओं में दीवारों पर हाथी, बारात, गणेश बनाते थे. ‘फेमस मेवाड़ी वॉल पेंटिंग्स’.”
“वाह और अब?”
”मेरे बड़े होने से पहले उनका इंतकाल हो गया था. मगर पिछले आँगन में रखे उनके रंग, तरह-तरह के रंगीन सॉल्ट्स, लाख, हिंगलू, नील, सिलबट्टे, हाथ की बनी कूचियाँ, तरह-तरह के बर्तन मेरे बचपन के खिलौने थे.”
“तुम जानती हो, उनका अनुभव धड़कता है तुम्हारे म्यूराल्स में.”
“सच?”
”हाँ. देखो न यहाँ ये हिस्सा घोड़े की पीठ-सा, यह लहरदार हंप ऊँट का. ये रंग जो न लायलक है न पिंक न रेड यह है क्या?”
“पता नहीं पर यह अब्बा इस्तेमाल करते थे.”
वह वही “कसूमल रंग” था जो किसी शेड कार्ड में विरले ही मिलता है.

माघ माह की बरसात, जिसे मेरे पीछे छूट गए शहर के लोग ‘मावठा’ कहते हैं, झिमिर-झिमिर बरस रहा था. युवती बहुत देर बाद पूरे वज़ूद में से बटोर कर दर्द के प्यालों-सी पलक उठाती एक सौ अस्सी अक्षांश के बीच पसरे युवक पर पल भर को टिकती और बंद सी हो जाती. युवक महसूसता उस नज़र को और नज़र के गुजर जाने पर पहलू बदलता आहिस्ता से. कुछ शालीन, कुछ भीरू -सा लगाव बरसते मावठे को कोहरीला बना रहा था.
इसकी आँख केवल आँख नहीं थी, आँख में एक सूना दिल बैठा था, उकड़ूँ। उसका दिल केवल दिल नहीं था, उसमें कोई आँख बैठी थी, कोहनी के बल उसकी पीड़ा को बस तटस्थ ताकती। इसकी आँख किरकिराती तो उसका दिल कसमसाता था। जब दिल कसमसाता तो आँख एक पल ठहर कर सहलाती। कंडक्टर कुछ नहीं कहता था पर उसके दिल में बैठी आँख कहती, “कभी तो इन भिंचे होंठो को खोल, मुस्कुरा! अपने दर्द से बुझ गए कलेजे को मेरे कलेजे से बाल, कि कितनेक दिन से देख रहा हूँ भीतर धुँआता तेरी जिंदगी का बिना देखा हिस्सा। “
इसकी आँख में बैठा दिल चीख कर उड़ता- मत खोल भेद, इस अभेद का। सुख-दुख सबके अपने अपने। थार का मरुस्थल की थाह हे रे बावले, पर इस दुख की थाह नहीं। क्यों कुरेदता है घाव?

उसने धीमे-धीमे गर्दन उठाई और एक क्षण बुझी नज़र से देखा उसकी ओर. हमने उसे देखते हुए देखा। युवक कंडक्टर ने उससे कहा- आराम से टिक जाओ नी.
वह हिली तक नहीं पर मुझे लगा कि उस युवक ने चुपचाप उसकी सूनी आँखों की मुंडेर पर दिया जलाकर रख दिया है. वे चमकीं एक पल। एक पल को ही सही सुख में तो बदला दुख। एक ही पल को सही, बरस गयी बदली, न सही फुनगियाँ, जड़ ही में सही भर गया हरापन। कंडक्टर चपल हो उठा, बतियाने लगा ड्राईवर से। वह सुनती रही गुमसुम। अपलक तकती रही विपरीत दिशा में, जहाँ तेज़ी से गुज़रते दृश्य थे। यात्रा बीत रही थी। उसकी आँखें विरोधाभासी थीं, जितनी गहरी शांति थी उनमें उतने ही ज्वार-भाटे थे।

पचास मिनट की थी उस युवती की यात्रा, और ये पचास मिनट शैलेश और मैं

अपना संभावित स्थायी बिछोह भूलकर मगन थे कंडक्टर और मास्टरनी की इस केमिस्ट्री को समझने में. चूँकि हम बिलकुल ही सामने बैठे थे, तो उस शालीनतम और बहुत पतले काँच से रुझान को अपनी कानाफूसी से मलिन और भंग करने का साहस हम भी नहीं कर सके थे. हमने अपनी आँखों और महीन मुस्कानों से सब कुछ कह- सुन और बाँट लिया था. उनकी आरंभ होती अस्पष्ट और नाज़ुक दास्तां नैतिकता के बियावां में हमसे कहीं ज़्यादा सहमी हुई थी. हम न जाने कैसे जान रहे थे कि कंडक्टर बस उससे इतना चाहता था न हँसे खिलखिलाकर और लड़कियों की तरह, पर हौले-हौले मुस्कुरा तो सकती है। न ले बगीचों के झूलों पर पींगे, बस की इस सीट पर आराम से टिक तो सकती है एक घंटा।

उस युवती का पड़ाव आ गया था. "मैडम विजैनगर आ गया." बस रुकने से पहले कंडक्टर कूद पड़ा केबिन से बाहर. उतरने वालों का बस के दरवाजे पर जमावड़ा था, मोटी गाड़िया-लुहारन अपनी मलिन पोटलियाँ उतारने को उतारू थी कि कंडक्टर ने एक धीमी डाँट से सबको रोककर जगह बनाकर "मैडम" को उतार दिया, गाड़िया लोहारन की एक पोटली उठाते में उसकी कोहनी अनजाने, युवती के कंधे से छू गई. उफ़! एक बहुत क्षीण मुस्कान कौंधी और बिला गई निर्वात में, उस पल में उस पर ऐसा "कसूमल रंगराग" छाया कि वह समूची बदल गई. किंतु बस क्षणांश ही को. वह बस से उतर कर चली. कंडक्टर समेत हम सबने देखे, एक सीधी- सादी औरत के सीधे चलते पैर, जो किसी रूपसी नायिका की तरह कहीं मुड़ते नहीं थे। या कि मुड़कर खुद अपनी मर्यादा के बोझ तले मिटते जाते थे। वह जो पीड़ा को भी अपने यौवन की तरह शॉल में छिपाती थी और कंडक्टर की अबोली तसल्ली का चेहरा उतर जाता। वह तो ऐसी दिखती थी कि मानो उसने अपना रोना-धोना देवताओं तक के आगे नहीं किया होगा । शायद यह सोचकर कि व्यर्थ ही इस देवता को दुखी किया जाए, बेहतर है चुप्पी ओढ़ ली जाए।

उसके उतरने के साथ ही मेरे मन में एक दीन घर उभर आया, जहाँ वह रहती होगी. जी रही होगी, काले सलेटी दिनों को जहाँ. किसी रेतीले कस्बे की गली का आखिरी घर. ऐसा घर जो कुछ नहीं बोलता दिन की मर्यादा में, मगर रात के अँधेरे में सिसकता होगा। जिस आँगन में कबूतरों की गूटरगूँ होती होगी वहाँ अब आँगन के नीम पर और छज्जों पर कव्वे उतरते होंगे हर शाम। सूने मैदानों में खड़े ठूँठ से उठती होगी उल्लू की आवाज़।

हमने अनुमान तो लगा लिया था कि ये दोनों बहुत दिनों से ऐसे ही यात्रा करते चले आ रहे हैं, क्या यह रोज़ होता होगा? बस की इस अति संक्षिप्त यात्रा में रोज़ अणु मात्र-सा कसूमल रंगराग इसके धवल- वैराग्य पर छाता होगा. फिर बस से उतर कर ये वैधव्य के विराग सागर में बिला जाती होगी! क्या रोज़ ही उसकी एक उड़ती तरल निगाह की प्रत्याशा में उस युवक का अस्तित्व उड़ने लगता होगा? रोज़ एक उजास की सृष्टि उसके भीतर होती होगी, लेकिन उसके बस से उतरते ही सब धड़ाम हो जाता होगा, छटपटाता होगा कलेजे में घायल कबूतर! उसके भीतर से आत्मा उसके साथ ही बस से उतर जाती होगी! क्या ये रोज़ विजय नगर आने पर ऐसे ही अर्धमूर्च्छित हो जाता होगा? मैं उस पल बिलकुल भी नहीं जान सकी थी उनके बीच कोई साइलेंट मैलोडी थी, शोर में गुम जब यह बीत रही थी, वह उतरी तो यह

मार्मिक मैलोडी गूँजी है. वह बिना कहे उसे कुछ कह गई थी- “तुम मेरी आवाज़ सुन सकते हो, पर मेरा कंपन नहीं। मेरी थिर भंगिमा देख सकते हो पर पसलियों में उछलता दिल? तुम देख सकते हो जैसी मैं हूँ, पर मेरे देखने को देखो कि किस साहस से मैं देखती हूं तुम्हें। इस दृश्य में फँसी ख़ामोशी में छिपकर मैं चीख रही हूँ सुनो मैं तुम्हें प्रेम नहीं करती हूँ। मत बाँधो कोई डोर. जिसे मरना था वह मर कर छूटा या नहीं... नहीं पता? मगर यह ऐसा मरना है जिसे महसूस किया जा सकता है पल- पल मरते हुए।“

लेकिन मर कौन गया था? यह हमने देखा. यकीनन देखने लायक थी उसकी मूर्च्छा, उसके बातूनीपन का खीज में बदलना. रजाई, गद्दे तहाकर वापस पटकना उपर और केबिन में न जाकर बस की किसी सीट पर बेजान ढह जाना. अगले दिन की प्रतीक्षा में?

फिर अगला दिन! जब भोर से पहले के घुप्प अँधेरे में, वह अपनी उम्मीद को उजास का भरम ओढ़ा कर, चिड़ियों की चहचहाहट से पहले निकल पड़ता होगा, टिकटों की फड़फड़ाहट लिए। “गुलाबपुरा...गुलाबपुरा!!” चिल्लाता हुआ. रोज़ ऐसे ही बीतता होगा तो रविवार?

हम जान गए थे कि वह उससे परोक्षत: कुछ नहीं चाहता, वह तो बस चाहता है उसके घावों की टीसें सोख लेना। उसकी ज़िंदगी के लू के मौसमों को बस एक घंटे के लिए बदल देने के लिए छटपटाता है कि उसके मन को ढाढ़स मिले तो कैसे मिले। वह जानता है, वह उसे क्या दे सकता है, बस थोड़ी राहत, कुछ देर का यह अहसास कि- कोई है, जिस पर तुम कुछ देर टिक सकती हो। भावना, भरोसा, तसल्ली ये कोरे शब्द उस नि:शब्दता में उस कंडक्टर के हर स्पंदन में सिहर-सिहर जाते हैं। जब वह बस में चढ़ते ही साधिकार केबिन में घुसती है, गुलाबपुरा आने से ज़रा पहले खाली कराई गई पूरी सीट पर बिछाए सफेद बिछौने पर बैठकर उस बिछाए जाने को सार्थक करती है। बस में गाना चलता है- एक ढोलो, दूजी मरवण... तीजो कसूमल रंग.

क्षण भर को उसके चेहरे पर कसूमल कुसुम खिलते हैं। वह उधर न देख कर भी देखता है कि उसके साँवले माथे पर लाल टीकी लगी है। वह यह बिना जाने ही संकोच से भर कर कड़क हो जाती है, सूखे होंठ भींचती है, सिमट कर बैठ जाती है। शॉल कस लेती है। एक बादल सड़क भिगो कर लापता है। हवा में भीगी घास की महक है, मौन धारण किए जंगल गुज़रते हैं।

उस सफर के बीतते जाते पलों में मैं चाहती थी कि हमारे सामने एक साईलेंट मैलोडी-सा यह प्रेम रोज़ बीते, यह बस का सफर रोज़ हो. रोज़ किसी गाँव से गुज़रने पर गोबर की महक मुझे घर-आँगन, अम्मी और अब्बू के रंगों की खुली प्रयोगशाला की याद दिलाती रहे. मन में बहुत कुछ घुमड़ रहा था लेकिन हम दोनों चुपचाप सट कर बैठे रहें।

हमारे समानांतर एक प्रेम गुज़र गया था अपनी लघुता में उदात्तता लिए।

अ-अभिव्यक्त अ-दैहिक, अ-मांसल।

और हमारा प्रेम अपनी तमाम दैहिकताओं, अपनी कलाकाराना मौलिक अभिव्यक्तियों के साथ-साथ तमाम विश्व के साहित्य, सिनेमाओं की कोटेशनों से प्रेम और उसके नानाविध इजहार उधार लेकर एक छोटे बिंदु में विलोप होता जा रहा था।

■

विजेंद्र एस विज

फतेहपुर उत्तर प्रदेश में जन्म। भारतीय शैली के चित्रकार, जिन्होंने बहुत कम समय में अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर अपनी उपस्थिति दर्ज की है. वह विशिस्ट विषयों पर शृंखलाबद्ध काम करते हैं, भारत सरकार से सीनियर फेलोशिप (पेंटिंग) प्राप्त, उन्होंने 6 एकल शो और 100 से अधिक समूह शो में भाग लिया।अब तक एक कविता संग्रह 'जुगलबंदी' प्रकाशित।

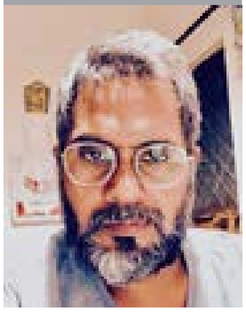

ईमेल - vijendra.vij@gmail.com

वीर मुंशी : एक अलहदा चित्रकार

-विजेंद्र एस विज

"मकान टूटते नहीं, हमारे भीतर रहते हैं ... वीर की एक सीरीज 'Pandit Houses' एक फोटोग्राफिक इंस्टालेशन है, जिसमें उन्होंने बिना किसी जोड़-घटाव के और बिना कश्मीरी पंडितों के अल्पसंख्यक होने की बाबत किसी बयानबाजी से अलग, बिना कोई हेर फेर किए इन्हें जस का तस प्रस्तुत किया है...

वीर मुंशी का जन्म श्रीनगर, कश्मीर में सन 1955 को हुआ था. उन्होंने एम.एस. यूनिवर्सिटी बड़ौदा में ललित कला का अध्ययन किया। कश्मीर के निर्वासित कलाकार वीर मुंशी अब 1990 से दिल्ली / गुड़गांव में रह रहे हैं। उन्हें और उनके समुदाय, जो कि एक जातीय हिंदू अल्पसंख्यक थे, को 1990 में अपनी मातृभूमि छोड़ने के लिए मजबूर किया गया था. वीर ने अपने गृह राज्य की स्थिति, अपने दर्द और संघर्ष को अपने कैनवस पर दर्ज करने और उस पीड़ा को दर्शाने के लिए लगातार अपनी कला का इस्तेमाल किया है. उन्होंने कई चित्र शृंखलाएँ बनाईं, लेकिन निर्वासन उनका प्रिय विषय रहा है, जिसे लेकर वे अनेक चित्र, वीडियो और इंस्टॉलेशन के माध्यम से प्रदर्शित करते रहे हैं. उन्होंने इसे राजनीतिक मुद्दा बनाने की बजाय इसे

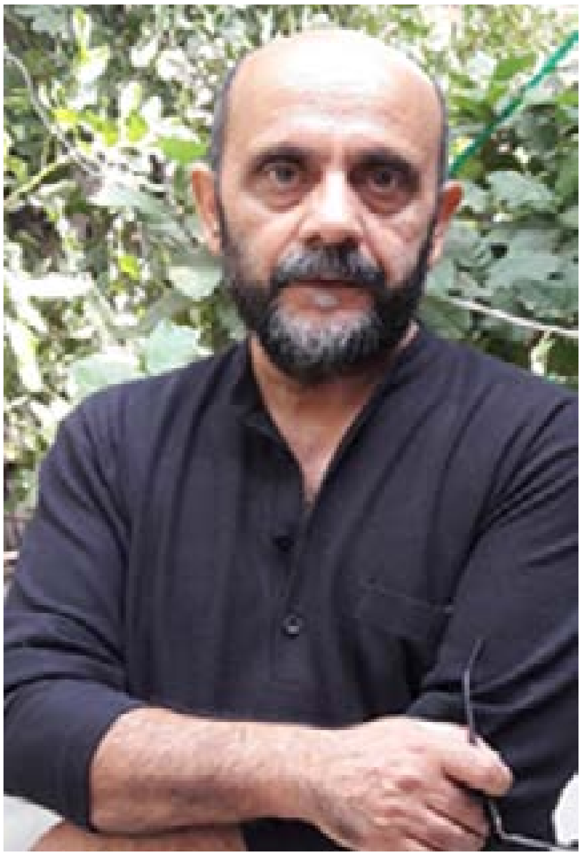

मानवाधिकार से जोड़ कर देखा है. वीर लगातार अपनी विरासत से अलग होने से पैदा हुई सघन पीड़ा और उथल पुथल को उजागर करने और अपने राज्य में मौजूद संस्कृति और कला को और विकसित करने की लगातार माँग करते रहे है. उन्हें यह हमेशा उम्मीद है कि कश्मीर की प्रकृति और सुंदरता के कारण वहाँ की स्थिति को बेहतर बनाने में कला महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है. हालाँकि अन्य समकालीन कलाकारों की तरह वीर की दृष्टि अलग है. उनके लिए उनकी कला में आनंद की अनुभूति उनके कला सृजन के निर्माण की प्रेरक नहीं है बल्कि एक शरणार्थी के रूप में उनका निजी अनुभव और उन्हें साझा करना ही उनकी कला के लिए प्रेरणा बनते हैं, और उनके चित्र तथा इंस्टॉलेशन में उस कश्मीर की झलक साफ़ नजर आती है.

मकान टूटते नहीं, हमारे भीतर रहते हैं ... वीर की एक सीरीज '*Pandit Houses*' एक फोटोग्राफिक इंस्टालेशन है, जिसमें उन्होंने बिना किसी जोड़-घटाव के और बिना कश्मीरी पंडितों के अल्पसंख्यक होने की बाबत किसी बयानबाजी से अलग, बिना कोई हेर फेर किए इन्हें जस का तस प्रस्तुत किया है. सीरीज में प्रदर्शित घर और पड़ोस निर्वासन में भाग रहे किसी समुदाय द्वारा पीछे छोड़ दिए गए खँडहर और स्मारकों के रूप में एक लाइन में खड़े हुए हैं. ये तस्वीरें उस हृदयविदारक इतिहास की गवाही देती हैं जिनके गुनहगारों को माफ़ कर दिया गया है. जैसे कि वह किसी अन्य ग्रह पर अजाने कालखंड में घटी कोई काल्पनिक घटना भर हो जिसका कोई दोषी नहीं. वीर मुंशी के ये चित्र भारत के लोकतंत्र में अपने घर से निष्कासित और दमित पीड़ितों की अनसुनी कर दी गई मानवाधिकार की पुकार हैं।

वीर गुड़गाँव रहते हैं कश्मीर से दूर, लेकिन कश्मीर उनके दिल में बसा है. गुड़गाँव में अपने ढाई मंजिला घर में उन्होंने कुछ शानदार जगहें बनाई हैं, जो 248 वर्ग गज में हैं। भूतल पर रहने का क्षेत्र, दो शयनकक्ष, एक अतिथि कक्ष और एक रसोई घर है। इनमें से ज़्यादातर कमरे एक छोटे से बगीचे में खुलते हैं। अपनी पत्नी के साथ यहाँ रहने वाले मुंशी कहते हैं, - ''मेरे निजी स्थान को हरियाली के स्पर्श के साथ हवादार होना था।''

वीर मुंशी ने अपने घर का डिज़ाइन बनाया और कमरों में रखे गए अधिकांश फर्नीचर को

अपने तरीके से डिज़ाइन किया है, घर का प्रवेश द्वार सुंदर है, जिस पर बोगनवेलिया खिलता है. अंदर छोटे आकार का एक बगीचा है जिसमें कमल का एक तालाब है। सुंदर मछलियाँ, शांत पानी और हरियाली यहाँ आने वाले किसी भी व्यक्ति को शांति और आनंद से भर देती हैं। यह घर कोई आम घर नहीं बल्कि वीर की मेहनत का फल है। कलाकार ने अपने सपनों का घर डिजाइन करने और बनाने के लिए दो साल समर्पित किए हैं। निर्वासित शरणार्थी के रूप में अपने अनुभवों को प्रतिष्ठित कलाकृतियों में बदलने के लिए प्रसिद्ध कश्मीरी कलाकार कहते हैं, "हर जगह आपसे कुछ कहती है और इसे क्या बनाना है यह आप पर निर्भर करता है।" मुंशी कहते हैं, ''दीवारों से लेकर अंदरूनी हिस्सों तक, मैं सभी कुछ ख़ुद डिज़ाइन करना चाहता था।" यहाँ तक कि उन्होंने सीढ़ियों की रेलिंग और अधिकांश फर्नीचर भी ख़ुद डिज़ाइन किए।

लिविंग रूम की दीवारें अपने आप में एक आकर्षण है, जो उनकी ईंटों की फिनिशिंग से देखा जा सकता है। वीर ने कुछ दीवारों के लिए हल्के सफेद-ग्रे पेंट के संयोजन का उपयोग किया है जबकि बाकी के लिए प्राकृतिक ईंट का रंग रखा है। जैसा कि उम्मीद की जा सकती है, यहाँ हर जगह कला है - दुनिया भर के प्रसिद्ध कलाकारों और मिश्रित हस्तशिल्प कलाकृतियों के माध्यम से इसे देखा जा सकता है। बैठक में अगल-बगल एक ओर एम.एफ. हुसैन की पेंटिंग रखी है और दूसरी ओर मुंशी का अपना कैनवस।

वे कहते हैं - "मैं फर्नीचर के साथ खाली जगह को जबरदस्ती भरना पसंद नहीं करता।"

तो, बस बैठने वाला फर्नीचर रबरवुड सेंटर-टेबल के साथ रखा है, जिसे मुंशी ने ख़ुद डिज़ाइन किया था। मेज पर रखी एक सिरेमिक प्लेट में कलाकार रेखा रोडविटिया की एक पेंटिंग है। कमरे के दूसरी तरफ एक छोटी, गोल डाइनिंग टेबल है, उसे भी वीर ने ही डिज़ाइन किया है।

"आप किसी आदमी को कश्मीर से निकाल सकते हैं, लेकिन कश्मीर को उस आदमी से आप कभी नहीं निकाल सकते। वीर का घर पेंटिंग, हस्तशिल्प और इसे सजाने वाली कालीनों में उनकी पुरानी यादें अपना घर बनाए हुए हैं, जहाँ से उनकी जड़ें जुड़ी हैं। वह कहते हैं - "मैं सोचते हुए अपने पैतृक घर जाता रहता हूँ।"

भोजन कक्ष में रखी एक बड़ी तस्वीर, जिसमें घाटी के एक परित्यक्त परिवार का घर दर्शाया गया है, अपनी ओर ध्यान आकर्षित करती है। मुंशी का कहना है कि वह घर कश्मीरी पंडितों के परिवार का था, जिन्हें निर्वासित होने को मजबूर किया गया था। आगे वे कहते हैं कि - "मैंने 1990 में श्रीनगर छोड़ा था और 17 साल बाद परित्यक्त घरों की इस श्रृंखला की शूटिंग के लिए वापस चला गया।"

पेपरमशी से बना एक विशाल जार - एक पारंपरिक कश्मीरी सजावटी कला - लिविंग एरिया के एक कोने में रखी है। एक छोटा कांगड़ी, एक पारंपरिक कश्मीरी आग का बर्तन, और एक समोवर जिसका इस्तेमाल कश्मीरी चाय बनाने के लिए करते हैं फर्श पर खड़े लकड़ी के शोकेस पर सुंदर ढंग से रखे हुए हैं।

शयनकक्षों की ओर जाएँ तो आप बिस्तरों पर हाथ से बुने हुए, कश्मीरी ऊनी कपड़े देख सकते हैं। अतिथि कक्ष में एक पारंपरिक कश्मीरी गलीचा लगा हुआ है। कलाकार कहते हैं, ''मैंने जहाँ भी संभव हो कश्मीरी तत्त्वों को शामिल

करने की कोशिश की है।''

वीर ने पहली मंजिल पर अपना स्टूडियो और ऑफिस बनाया है। जब आप सीढ़ियाँ चढ़ते हैं तो आप सीढ़ी की दीवार पर प्रदर्शित दुनिया भर से इकट्ठा की गई टोपियों का एक विशाल संग्रह देख सकते हैं। वह कहते हैं, "हैट उन विभिन्न देशों की याद दिलाने का काम करते हैं, जिनकी मैंने इतने वर्षों में यात्रा की है।"

वीर का स्टूडियो दो बालकनियों के बीच है, जिससे ढेर सारी धूप इस हवादार कमरे में आती है। यह वीर की पुरानी पेंटिंग्स और बड़े-बड़े कैनवसों से भरा हुआ है। फर्श पर बेहद सुंदर और चमकीले कोटा पत्थर और बीकानेरी टाइल्स का अद्भुत मिश्रण है। वह कहते हैं कि - "इस जगह को मुझे रंगों और नाटकीयता से भरना था।"

इमारत की एक संरचनात्मक विशेषता - एक विशाल खड़े स्तंभ - को इस जगह पर असामान्य एलीमेंट में परिवर्तित कर दिया गया है। मुंशी कहते हैं कि - "मैं इस स्तंभ को नफ़रत से देखता था और महसूस करता था कि यह मेरे स्थान पर अतिक्रमण कर रहा है, इसलिए मैंने इसकी फिनिशिंग ईंटों जैसी लगने वाली टाइल के साथ की और इसे आकर्षक और अधिक उपयोगी बनाने के लिए लकड़ी की अलमारियों को इसके साथ लगा दिया।" फिर उन्होंने उस पर कश्मीर से छोटी-छोटी दुर्लभ और सामान्य कलाकृतियाँ रखने का विकल्प चुना।

स्टूडियो से सटा हुआ वीर का ऑफिस है जो एक असामान्य घडी से जीवंत है," - मैंने तबका मास या कश्मीरी तली हुई मेमने की पसलियों की अपनी एक तस्वीर में से एक को एक बड़ी दीवार घड़ी बनाने के आधार के रूप में इस्तेमाल किया,". ऊपर एक बहुत बड़ा कमरा है जो स्टूडियो अपार्टमेंट की तरह काम आता है। जिसे वे अपने लिए एक मांद की तरह इस्तेमाल करते हैं। हालाँकि कमरे का ऊँचा हिस्सा इसकी गुंबददार छत है।

वे कहते हैं "गुंबद दिल्ली की विशेषता है और मैं इस तत्त्व को अपने घर में बुनना चाहता था।" उन्होंने जैसलमेर से लाए पीले पत्थर की फर्श के साथ उस जगह को उजला बनाया है।

कलाकार की छाप अमिट और उसके घर के हर हिस्से में दिखाई देती है जिसे उसने बहुत प्यार और श्रमसाध्य रूप से बनाया है।

असल में वीर का यह घर महज़ एक घर ही नहीं, बल्कि एक आर्ट इंस्टॉलेशन जैसा ही है, जिसमें विस्थापन की तमाम यादें हैं, उनका अपना कश्मीर है, और वे तमाम घर हैं जो पीछे छूट गए हैं. वह पंडित हाउस भव्य पुरानी हवेली की शृंखला भी है.

वीर मुंशी समकालीन भारतीय चित्रकार हैं. उन्होंने विभिन्न माध्यमों जैसे इंस्टॉलेशन, वीडियो, पेंटिंग और तस्वीरों के माध्यम से 17 एकल प्रदर्शनियाँ देश-विदेश के विभिन्न शहरों में की हैं जिसमें दिल्ली, मुंबई, कोलकाता, पर्थ, एडिनबर्ग और संयुक्त राष्ट्र जिनेवा शामिल हैं. उनके कार्यों को भारत और विदेशों में विभिन्न संग्रहों में देखा जा सकता है, जिसमें आधुनिक कला की राष्ट्रीय गैलरी दिल्ली भी शामिल है। स्मार्ट म्यूजियम ऑफ आर्ट शिकागो, इंडो-ऑस्ट्रेलियाई संस्थान संग्रहालय मेलबर्न में भी उनका काम प्रदर्शित है.

वर्तमान में वीर के इन घरों को हाई लाइन नाइन गैलरी, 507 W27th **सेंट, न्यूयॉर्क में 30 सितंबर 2022 तक प्रदर्शित किया गया है, जिसे वहां जाकर देखा जा सकता हैं.** जिसमें 49 तस्वीरों का ग्रिड एक एनिमेशन (5.30 मीटर लूप) में चलता है जिसमें **'पडित हाउस'** शृंखला से एक भव्य पुरानी हवेली के जलने को दर्शाता गया है. साथ में नीचे बुद्ध को एक पुराने स्मारक के मॉडल के प्रतीक के रूप में रखा है, जिसे 15वीं शताब्दी में श्रीनगर में शासक सुल्तान-उल-आबेदीन द्वारा धर्मनिरपेक्षता के लिए बनाया गया था.

वीर कहते हैं कि मुझे अपनी अभिव्यक्ति को व्यक्त करने के लिए विभिन्न माध्यमों में काम करने में ख़ुशी मिलती है, इसलिए मेरे काम अपने माध्यम स्वयं तलाश लेते हैं.

चित्र और चित्रकार

Title: **HOMES DON'T GET DEMOLISHED ,THEY LIVE INSIDE US**
Photographs, video / Size: Grid of 49 photographs 5/7 inches each
Medium: sun-board Modle Budsha tomb, video 5.3 mts in loop
Artist: Veer Munshi

चित्रकार **वीर मुंशी** का यह इंस्टालेशन वर्तमान में **हाई लाइन नाइन गैलरी**, 507 W-27th स्ट्रीट, न्यूयॉर्क, में **12 सितंबर से 30 सितंबर 2022** तक प्रदर्शित किया जा रहा है.